

TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180313

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H82

Acc No. GH 2195

S53D

शास्त्राचार्य

हर्मिदा

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H 82/553D** Accession No. **G. H. 2195**

Author **शास्त्री, चतुरसेन।**

Title **धर्मराज ११५६**

This book should be returned on or before the date
last marked below.

धर्मराज

[ऐतिहासिक नाटक]

लेखक—

आचार्य चतुरसेन शास्त्री



राजपाल एण्ड सन्स
करमीरी गेट, दिल्ली-११

प्रकाशक

राजपाल एण्ड सन्ज

कश्मीरी गेट

दिल्ली

मूल्य

तीन रुपए

मुद्रक

बालकृष्ण, एम० ए०

ग्रुगान्तर प्रेस, डफरिन पुल

दिल्ली

आमुख

धर्मराज अशोक—मोये साम्राज्य के संस्थापक महान् सम्राट् चन्द्रगुप्त का पौत्र और बिन्दुसार का कनिष्ठ पुत्र था ।^१ अशोक की माता का नाम 'शुभम्रंगी' था ।^२ कोई-कोई उसका नाम 'धर्मा-अग्रमहिषी' बताते हैं ।^३ अशोक के अनेक भाई थे । उनमें अशोक अपनी प्रतिभा तथा ज्ञान द्वारा सर्व शक्तिशाली हुआ ।^४ अशोक का राज-परिवार बहुत बड़ा था, उसका उसने सम्राट् होने पर भली-भांति पालन किया ।^५ अशोक ने अपने पूर्वजों की भांति 'देवानां प्रिय' को अपना उपनाम बनाया ।^६

१—देखिए—शिलालेख १३वां ।

२—अशोकावदान (उत्तरी गाथा)

३—दक्षिणी गाथा ।

४—महावंश, पांचवां प्रकरण ।

५—स्तम्भलेख, सातवां, नं० ११ तथा चतुर्थ, षष्ठ, नवम, और बारहवां शिलालेख ।

६—आठवां शिलालेख । पांचवां शिलालेख तथा वराट शिलालेख । 'प्रियदर्शी' तथा 'देवानां प्रिय' यह अशोक की पैँ. उपाधियां थीं । मुद्राराक्षस में चन्द्रगुप्त को भी 'प्रियदर्शनत्तो' कहा ग० है । नागा जर्जुन गुहलेख में 'दशलथ देवानां प्रिय' लिखा है, जो अशोक का पौत्र था । महाभाष्य के रचयिता पातञ्जलि के अनुसार 'देवानां प्रिय' का अर्थ भवान्, दीर्घायु और आयुष्मान् की भांति सम्मान और प्रसाद के अर्थ में लिया जाता था । पर कदाचित् बाद में यह शब्द 'मूर्ख' के अर्थ में लिया जाने लगा । कात्यायन का एक वार्तिक है—देवानां प्रिय इति च (मूर्ख) अतः देव प्रियः (भट्टोजि दीक्षित सिद्धान्त, कौमुदी)

वह प्रियदर्शी और प्रियदर्शिन नाम से भी प्रसिद्ध हुआ ।

अशोक का परिवार—अशोक के पिता बिन्दुसार ने २५ वर्ष राज्य किया । उसने प्रतापी चन्द्रगुप्त के साम्राज्य को भली-भांति चलाया । पश्चिमी एशिया तथा मिस्र के यूनानी राजाओं से उसके अच्छे सम्बन्ध थे । परन्तु अपने जीवन के अन्तिम दिनों में उसके राज्य में सर्वत्र अराजकता फैल गई थी । २५ वर्ष राज्य करने के बाद ई० पू० २७१ में उसकी मृत्यु हुई और इसी समय अशोक मगध की गद्दी पर बैठा । परन्तु घरेलू झगड़ों के कारण उसका राज्याभिषेक ई० पू० २६६ में हुआ ।

अशोक की अनेक रानियां थीं, जिनमें असन्धिमित्रा,^१ कारुवाली,^२ विदिशादेवी,^३ शाक्य-कुमारी महादेवी,^४ पद्मावती^५ और तिष्यरक्षिता^६ प्रमुख थीं ।^७ असन्धिमित्रा प्रधान रानी थी । अशोक के पांच पुत्र और दो पुत्रियां थीं । पुत्रों के नाम—महेन्द्र, उज्जैनो, तिवाला, धर्मविवर्धन और जलोका; तथा पुत्रियों का—संघमित्रा और चारुमती था । पौत्र दशलथ, सम्प्रति और सुमन थे ।^८ दशलथ अशोक के बाद राज्याधिकारी हुआ ।^९

कलिंग-विजय—सिंहासनारूढ़ होने के आठ वर्ष बाद ई० पू० २६१

१—महावंश, २०वां अध्याय ।

२—चतुर्थ गौणस्तम्भ लेख ।

३—महावंश ।

४—गाथा ।

५—गाथा ।

६—दिव्यावदान ।

७—पांचवां शिलालेख ।

८—महावंश, १३वां प्रकरण ।

९—नागार्जुन—गुफा लेख ।

में अशोक ने कलिंग को विजय किया। इस युद्ध में डेढ़ लाख मनुष्य बन्दी हुए, एक लाख आहत हुए और इससे कहीं अधिक मारे गए।^१

कलिंग एक सुसम्पन्न और समृद्ध देश था। सारा प्रदेश उपजाऊ था। वहाँ के ग्राम-नगर हर्षोत्पल थे। यहाँ के हाथी हृष्ट-पुष्ट और विशाल थे। वे बहुमूल्य होते थे। उस काल में हाथी-सेना ही प्रधान-शक्ति समझी जाती थी। इस समृद्धिशाली देश का राजा भी महाशक्ति-शाली था। इस राजा के शरीर-रक्षकों में ६० हजार पैदल, १० हजार सवार और ७०० हाथी थे।^२

कलिंग राज्य अशोक के साम्राज्य की अन्तर-राजनीति में कण्टक स्वरूप था। आन्ध्र और परिन्दा के प्रान्त अशोक-साम्राज्य के अन्तर्गत थे। कलिंग राज्य महानदी व कृष्णा के मध्यस्थ तटवर्त्ती प्रदेश था। वर्त्तमान उड़ीसा और मद्रास का अधिकांश उत्तरी भाग इस राज्य के अन्तर्गत था। उन दिनों कृष्णा और कावेरी-मण्डल प्रदेश को आन्ध्र कहते थे। अशोक साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी। और वर्त्तमान बंगाल का अधिकांश भाग मगध साम्राज्य के अन्तर्गत था। 'परिन्दा' सम्भवतः साम्राज्य की पूर्वी सीमा पर कदाचित् पूर्वी बंगाल में था। इस तरह कलिंग राज्य अन्तर-राजनीति में एक कील की भांति गढ़ा था; जो कभी भी चोड़ राज्य से गुरु-मंत्रणा कर सकता था। इसलिए साम्राज्य की कुशलता और एकीकरण के लिए कलिंग-विजय अनिवार्य थी।^३

कलिंग के सम्बन्ध में चीनी यात्री ह्वेनसांग लिखता है—'इस प्रदेश की परिधि दो सौ 'ली' है। इसकी राजनगरी २० ली है। यह प्रान्त खूब उपजाऊ है। यह प्रदेश फल और फूलों के वृक्षों से भरपूर है।

१—सोलहवां शिलालेख।

२—मेगस्थनीज के विवरण Froan i,vi,

३—देखिए १३वां शिलालेख, और श्री डा० भण्डारकर।

इस प्रदेश में सैकड़ों ली तक विस्तृत फैले हुए मनोरम वन्य और अरबी जंगल हैं। यहां बड़े-बड़े भूरे हाथी पाए जाते हैं, जिनकी पड़ोसी देशों में बहुत मांग है। जलवायु और सूर्योत्पल तापपूर्ण है। यद्यपि यहां के लोग अधिकतर रूखे और असम्य हैं, किन्तु वे सत्यवादी और विश्वसनीय हैं। प्राचीन काल में कलिंग राष्ट्र बहुत घना बसा था, यहां की जनसंख्या अगण्य थी। यहां के लोगों के कंधे एक-दूसरे से रगड़ खाते थे। यहां के लोगों के रथों के पहिये आपस में टकराते थे।^१

अशोक का साम्राज्य—अशोक का साम्राज्य उत्तर में हिन्दुकुश तक तथा मकरान, बिलोचिस्तान व अफगानिस्तान तक फैला था। काश्मीर और नैपाल उसके साम्राज्य के भाग थे। पूर्व में आसाम को छोड़कर दक्षिण मैसूर तक समूचा भारतवर्ष उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था। यह साम्राज्य पांच भागों में बंटा था, जिनकी राजधानियां तक्षशिला, उज्जैन, स्वर्णगढ़ी, तौसकी तथा पाटलिपुत्र थीं। पाटलिपुत्र प्रधान राजनगरी थी। काश्मीर के नगर श्रीनगर की स्थापना अशोक ने ही की थी। नैपाल में भी उसने एक नगर बसाया था।^२

साम्राज्य से सम्बन्धित दो प्रकार के सीमान्त राज्य थे। एक वे जो स्वतन्त्र या अर्ध-स्वतन्त्र थे। दूसरे वे जो विजित थे। ऐसे राज्यों में तुरमय (टालमीराज्य) अन्तिगोनस, मग, अलिक-सुन्दर स्वतन्त्र राज्य थे। दक्षिण सीमा पर चोड़-पाण्ड्य, सत्यपुत्र, केरल और ताम्रपर्णी राज्य थे।^३ यवन, काम्बोज, भोज, पितनिक, आन्ध्र, पुलिन्द राज्य साम्राज्य के अन्तर्गत थे।^४ काम्बोज

१—ह्वेनसांग का यात्रा-विवरण।

२—राजतरंगिणि, ह्वेनसांग यात्रा विवरण तथा दूसरा, पांचवां, तेरहवां शिलालेख।

३—तेरहवां प्रज्ञापन।

४—शाहबाज गढ़ी का शिला लेख।

और यवन काबुल नदी के क्षेत्रों में थे। यह काबुल नदी वैदिक कुभा है। यह प्रान्त सिल्यूकस ने सन्धि में चन्द्रगुप्त को दिया था। यवन उत्तर-पश्चिमी सीमा पर थे।^१ ये यवन राज्य उत्तर पश्चिमी-सीमा पर कोकन और इन्डस के मध्य काम्बोज और गांधार के समीपस्थ थे।^२ गान्धार और काम्बोज पूर्वी अफगानिस्तान से सिन्धु नदी तक के पश्चिमी हिमालय और पश्चिमी पंजाब तक फैले थे। वर्तमान कन्धार और काबुल का प्रदेश इसी में सम्मिलित था। राष्ट्रिक गण काठियावाड़ में थे।^३ विदर्भ भोजों का प्रदेश था।^४ पश्चिमी सीमान्त को अपरन्ता कहते थे। साम्राट् ने उन्हें स्वतन्त्र किया हुआ था।^५ आन्ध्र के शक्तिशाली राज्य का विस्तार कृष्णा नदी के मुहाने तक था।^६

ये सब राज्य पूर्ण आन्तरिक स्वतंत्रता प्राप्त थे। अशोक कहता है, जब तक ये राज्य धर्म-पथ पर चलेंगे, स्वतन्त्र रहेंगे।^७ इन प्रान्तों की देखभाल को अन्तःपाल नियुक्त थे और साम्राज्य की सीमा पर सम्राट् ने खास-खास स्थानों पर गढ़ बनवाए थे।

अशोक के समकालीन राजा—अंतियोक (यवनराज) तुरमय, अंति-किन, मग और अलिकसुन्दर अशोक के समकालीन राजा थे।^८ अंतियोक सिल्यूकस का पौत्र था। यह सीरिया, बैक्ट्रिया, और पश्चिमी एशियाई

१—देखिए—अशोक की धर्म लिपियाँ—काशी नागरी प्रचारिणी सभा।

तथा पांचवाँ शिलालेख और तेरहवाँ शिलालेख।

२—देखिए—ह्वेन्सांग का विवरण।

३—श्री हल्स।

४—बुलर।

५—कलिंग का द्वितीय शिला-लेख।

६—डा० भण्डारकर।

७—कलिंग का द्वितीय लेख।

८—शहबाज गढ़ी का शिलालेख।

प्रदेशों का अधिपति था । इसका यवन साम्राज्य मौर्य साम्राज्य का पड़ोसी राज्य था । तुरमय मिस्र का द्वितीय टालमी फिलाडेल फौस था । अन्तिकिनिया अन्तकिन मेसीडोनिया का राजा था । मगा यामक मिस्र के राजा टालमी फिलाडेल फौस का भाई था । यह कैरीन का स्वामी था । कैरीन मिस्र के पश्चिम में है । अलिकसुन्दर एपिरस का राजा था । ^१ अंतियोक का राज्य अशोक साम्राज्य की सीमा पर था । शेष चारों राजा अंतियोक के सीमावर्त्ती तथा अशोक से दूर थे । ^२ इन राजाओं के साथ अशोक का दौत्यसम्बन्ध क्रायम था । सब राज्यों में एक-दूसरे के दूत रहते हैं । ^३

अशोक का कायापलट—अशोक के शासन काल के पहले तेरह वर्षों का हाल अन्धकारपूर्ण है । उसके नए और प्रकाशमान जीवन के काल का आरम्भ कलिंग युद्ध के बाद का है । कहते हैं, पहले अशोक बड़ा क्रूर और क्रोधी था; जिसके कारण वह चण्डाशोक प्रसिद्ध हो गया था । कलिंग युद्ध के नरवध से वह द्रवित हुआ । और उसका धर्माचरण बढ़ा, जिससे उसके सारे ही शासन की कायापलट हो गई । कदाचित् ही कोई दूसरा ऐसा राजा हुआ हो, जिसने धर्मभावना के कारण अपने राजकीय आचरण में इतना परिवर्तन किया हो । उसकी अपनी निजी आकांक्षाएं, राजकीय कामनाएं, विश्व-कल्याण और जीव-मंगल की अभिलाषाओं में परिवर्तित हो गईं । सैनिक वीरघोष मंगल-कारी 'धर्मघोष' बन गया । शस्त्रों की विजय धर्म-विजय में बदल गई । ^४

१—J. R. A. S. 194, P. 944-45 तथा कैंब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया Val. 1. और शिलालेख तेरहवां ।

२—देखिए, कालसी का प्रज्ञापन ।

३—देखिए, तेरहवां शिलालेख ।

४—मानसेरा का शिलालेख ।

धर्मप्रचार—धर्मप्रचार के लिए उसने धर्म महामात्र आदि नियुक्त किए। शिलालेख, स्तम्भलेख खुदवाए और भिन्न-भिन्न देशों में प्रचारक भेजे।^१ उसने काश्मीर, महिममण्डल, अपरेतिका, यवनदेश, हिमालय प्रदेश, महाराष्ट्र, लंका, सुवर्णभूमि (पेगू और कौल) में धर्म-प्रचारक भेजे। उसने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को भिक्षु बना लंका भेजा, जहां उन्होंने आजीवन प्रचार किया।^२ महावंश के कथनानुसार अनेकों प्रदेशों ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया।^३ जहां लाखों-करोड़ों की संख्या में लोग बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए।^४

अशोक कालीन भारत—शिलालेखों तथा गाथाओं के आधार पर अशोककालीन भारत पर जो प्रकाश पड़ता है, उसका उल्लेख भी यहां हम संक्षेप में करना चाहते हैं। उस काल में ब्राह्मण, संन्यासी और बौद्ध श्रमण होते थे। अशोक दोनों का सम्मान करता था।^५ एक आजीवक साधु होते थे जो नंगे रहते थे, निगंठ भी नंगे रहते थे।^६ इन संघों में पाखण्डी बहुत थे। अशोक ने उन्हें सफेद वस्त्र पहनाकर संघ से निकाल दिया था। उस समय तक प्राग्भूत-बुद्ध—बोधिसत्त्वों की पूजा प्रचलित हो गई थी।^७ ऐसे ही कोनाकानम स्तूप की यात्रा की थी। तथा उसका जीर्णोद्धार किया था। इससे पता लगता है कि ऐसे स्तूप अशोक से

१—देखिए १३वां शिलालेख और महावंश प्रकरण ५ -

२—देखिए १३वां शिलालेख, तथा

List of missionaries sent out by Asoka. J.R.A.S. 1908, P. 8, Table IV.

३—महावंश प्रकरण १२।२०वां।

४—देखिए महावंश, बीपधंश, समन्द पसाविका आदि गाथाएं तथा १३वां शिलालेख।

५—तृतीय शिलालेख।

६—७वां शिलालेख।

७—निगलिव स्तम्भ-लेख।

प्रथम ही बनने लगे थे । अशोक के किसी स्मारक पर जैसे चैत्य, स्तूप, स्तम्भ और शिला-लेख कहीं भी बुद्ध की मूर्ति अंकित नहीं है । कानसी के शिला-लेख के उत्तर ओर हाथी की रेखांकित प्रतिकृति है, जिसके लिए 'गजोत्तम' शब्द लिखा है ।^१ शुभ्र हस्ती बुद्ध का द्योतक है । बौद्ध गाथाओं के अनुसार बोधिसत्व (आगामी बुद्ध) ने स्वर्ग को त्यागकर शुभ्रहस्ती ही के रूप में अपनी माता के गर्भ में प्रवेश किया था । इस भावना का प्रचार अशोक काल में हो चला था ।

विभिन्न सम्प्रदायों के लिए अशोक ने 'पाषडधि' अथवा 'पासंडमिह' या 'पासंड' शब्द का प्रयोग किया है ।^२ यह शब्द सम्प्रदाय या धर्म के लिए प्रयुक्त किया गया है । 'पासंड' शब्द 'पाखंड' का अपभ्रष्ट रूप मालूम देता है पर श्री भंडारकर कहते हैं कि 'पासंड' पार्षद या पार्षण्ड का विकृत रूप है । परन्तु पार्षण्ड शब्द अन्य संस्कृत ग्रन्थों में नहीं मिलता अशोक काल में बोलचाल की भाषा में सम्भव है यह शब्द रहा हो । ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक-काल में कर्मवाद का सिद्धान्त साधारण उपासक से लेकर सभी पार्षडों, सम्प्रदायों आदि में जोर पकड़ रहा था । तथा दिव्यरूपों और स्वर्गीय उपहारों पर आस्था हो गई थी । कर्मवाद अशोककालीन भारत का धर्म हो चला था । परन्तु उस काल में भी अन्ध विश्वासों का बहुत जोर था । स्त्रियों में खासकर मिथ्याधर्म का प्रचार था ।^३ जिसके कारण यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, नाग, सुपसी, हस्ती, अश्व, काक आदि की पूजा होती थी । अनेक सम्प्रदायों में जटिल, अवरुद्धक, परिव्राजक, हस्तिपूजक, अश्व-पूजक, गौपूजक, कुत्ता और कौवों के उपासक, यज्ञ, गन्धर्व, चन्द्र, सूर्य, पुराण, मद्, मणिभद्, वासुदेव, बलदेव, ब्रह्मा, इन्द्र तथा विभिन्न

१—छठा शिलालेख तथा १३वां गिरनार का शिला-लेख ।

२—देखिए—१३वां प्रज्ञापन ।

३—६वां शिला-लेख ।

दिशाओं के उपासक थे ।^१

जाति-पांति के नियम उदार थे । छूआछूत न थी । न समुद्र-यात्रा पर प्रतिबन्ध था । मांस-भक्षण का काफी प्रचार था । राजा के रसोई-घर में हज़ारों जीवों का वध शोरवे के लिए नित्य होता था ।^२ अशोक ने उनका निषेध किया । अनेक पशु-पक्षियों को अवध्य बताया ।^३ उस काल में होम-यज्ञ बलि की प्रथा भी थी, जिसे अशोक ने बन्द कर दिया था । समाज भी उसने बन्द कर दिए थे ।^४ शिकार आखेट के स्थान पर धर्म-यात्राएं जारी की थीं ।^५ शायद पर्दे की प्रथा थी । राजा का रनिवास 'अवरोध' कहाता था । पाणिनी का भी एक सूत्र 'असूर्यपश्या' है, जिसका अर्थ काशिकाकार ने 'असूर्यपश्या-राजदारा' किया है । यह शब्द कौमुदी नाटक में भी एक राजकुमारी के लिए प्रयोग किया गया है । परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसका अभिप्राय यह है कि तत्काल में स्त्री-पुरुषों का सह-समाज न था । कौटिल्य ने एक शब्द 'अनिष्कासिनी' स्त्रियों के लिए प्रयोग किया है । इसका अर्थ होता है कि स्त्रियां बाहर नहीं निकलती थीं । अशोक ने स्त्री-अध्यक्ष की नियुक्ति कदाचित् इसी-लिए प्रथक की थी । परन्तु भिक्षुणी स्त्रियां बाहर घूमती थीं ।

अशोक काल में अनेक वर्ग भी थे—भिषेयु (वैश्य) ब्राह्मण, अभेयु (?), भट, क्षत्रिय, दास, शूद्र थे ।^६ केवल यवन देश में जाति-भेद न था ।^७ क्षत्रिय कदाचित् शासक जाति थी, पर उनकी जाति शायद

१—मुत्तपिटक निद्देस ।

२—प्रथम शिलालेख ।

३—५वां स्तम्भलेख ।

४—प्रथम शिलालेख, शहबाजगढ़ी ।

५—चतुर्थ स्तम्भलेख ।

६—शिलालेख ६, ११ और १३, तथा स्तम्भ लेख ७ ।

७—दूसरा शिलालेख ।

नहीं थी। शूद्र वर्ग में भृत्य और दास भी थे। अशोक ने पशुओं और मनुष्यों के अच्छे चिकित्सालय स्थापित किए थे।

अशोक काल में दो लिपियां प्रचलित थीं। १—ब्राह्मी लिपि, दूसरी खरोष्ट्री लिपि। खरोष्ट्री लिपि दाएं से बाएं लिखी जाती थी; फारसी लिपि की भांति, पर ब्रह्मी बाएं से दाएं लिखी जाती थी; संस्कृत की भांति। खरोष्ट्री लिपि का प्रचार उत्तर-पश्चिम भारत के सीमाप्रान्तों से लेकर चीन-तुर्किस्तान तक था। ब्राह्मी लिपि कालान्तर में सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं की माता बनी। तिब्बत-सीलोन-ब्रह्मा की भाषाओं की माता भी ब्राह्मी लिपि है। खरोष्ट्री लिपि ५वीं शताब्दी के लगभग भारत से लुप्त हुई।

अशोक के शिलालेखों में वर्णविन्यास अथवा अक्षर-विन्यास की विचित्रता है। शिलालेखों में कहीं भी समान व्यंजन, द्विगुणित नहीं किए गए हैं। इन लेखों में दो प्रकार की भाषा व्यवहार में लाई गई है। स्तम्भ-लेखों की भाषा का भारत में बहुत प्रचार था। यह भाषा सम्पूर्ण मध्यप्रदेश, बिहार, उड़ीसा, और देहरादून तक प्रचलित थी। श्री भण्डारकर मौर्य दरबार की भाषा मगधी मानते हैं।^१ मध्यदेश और कलिंग तक इसी भाषा का चलन था। परन्तु उत्तरापथ के शाहबाज गढ़ी और मानसरा के लेखों की भाषा तथा दक्षिण के गिरनार की भाषा में अन्तर है।

अशोक के लेखों से यह प्रकट होता है कि साधारण जनता में शिक्षा का काफी प्रचार था। विद्या की उन्नति में बिहारों में बहुत कार्य हुआ।

वि० स्मिथ का मत है कि अशोक-काल में शिक्षा का औसत प्रतिशत ब्रिटिश राज्य से बढ़कर था। उस काल में लोगों के गृहस्थ-जीवन और नागरिक सम्बन्ध अच्छे थे। कुटुम्ब धर्म के प्रमुख शिक्षालय थे। गृह-जीवन का स्नेह बन्धन धर्म का प्रमुख लक्षण था। माता-पिता की सेवा,

मित्रों, सम्बन्धियों के प्रति उदारता, ब्राह्मणों और श्रमणों की सेवा, प्राणियों का संयम आदि की भावना गृहस्थों में थी ।^१ गृहस्थ साधु-सन्तों का आदर करते थे ।

बहुविवाह और बहुभार्यत्व की प्रथा थी । अशोक की अनेक रानियां थीं । थोड़ी आयु में भी विवाह होते थे । राजकुमारी संघमित्रा का १४वें वर्ष व्याह हुआ । अठारहवें वर्ष उसका पति भिक्षु हुआ और बीसवें वर्ष वह भिक्षुणी हुई ।^२

अशोक की महत्ता—चान पैनशियर का यह कथन सत्य है कि अशोक ने अपने लेखों में अपना व्यक्तित्व छिपा दिया है । वह एक सच्चा सरल और प्रजा सेवी-राजा था । वह मनुष्य का सबसे बड़ा मित्र था तथा भूतदया का प्रेमी था । उसने सारा जीवन लोकहित में व्यतीत कर दिया । उसके सत्कर्म की उसकी राज्य-सत्ता बाधक भी थी तथा साधक भी । वह अपनी प्रजा ही की नहीं पड़ोसी देशों की प्रजा की भी भलाई चाहता था । उसका आदर्श सर्व कल्याण था । इसी आदर्श की पूर्ति करने के लिए वह राजकीय वैभवों को ठुकराकर आजीवन विश्वकल्याण का हित करते रहे ।^३ रेक्सन और हाडी ने अशोक की तुलना कौन्स टेन्राइन सम्राट् से दी है । कौन्स टेन्राइन क्रिश्चियन धर्म का संरक्षक था । उसका धर्म परिवर्तन ईसाई धर्म के इतिहास में क्रान्ति का युग माना जाता है । यद्यपि दोनों अपने-अपने धर्म के संरक्षक थे पर उनके आदर्श पृथक् थे । कौन्स टेन्राइन के समय ईसाई धर्म प्रचालित धर्म था । पर अशोक के काल में बौद्ध धर्म केवल बिहार के आसपास का ही धर्म था । उसमें तभी दोष होने लगे थे । अशोक ने उसे विश्वधर्म बना दिया । यदि रोमन साम्राज्य की भांति मौर्य साम्राज्य भी अशोक के बाद चिर-स्थायी रहता तो निस्संदेह समूचा भारत और समूचा एशिया बौद्ध धर्म

१—गिरनार का तीसरा लेख ।

२—महावंश ।

३—दिग्विजय सुत्त ।

के झुंडे के नीचे आ जाता। अशोक के कारण भारतवर्ष की आध्यात्मिक महत्ता विश्व की दूसरी जातियों पर स्थापित हुई। सब जातियों में एकता के भाव बढ़े। कला-कौशल और ज्ञान की अभिवृद्धि हुई। अशोक भारत का एक महान और अद्वितीय धर्म-राजा था। वह भारतवर्ष की अक्षय निधि था।

धर्मराज—इस नाटक में अशोक के जीवन का इतिवृत्त नहीं है। उसके जीवन की व्याख्या है। मूलाधार वे बातें, जिनका सांस्कृतिक प्रभाव है, यथासम्भव ऐतिहासिक आधारों पर है। केवल कथा-प्रवाह कल्पना-प्रधान है। नाटक और उपन्यासों की यह परम्परा साहित्य-निष्ठा के अन्तर्गत ही है। भाषा और भाव का सामञ्जस्य करने के लिए मैंने कुछ तत्कालीन प्रचलित शब्दों का उपयोग किया है, जिनकी परिभाषा और पर्याय परिशिष्ट में दे दिया गया है। अशोक की निष्ठा, धर्माचार और त्याग भावना यथावत् वैसी ही रहे, जैसी उसके ज्ञात इतिहास आधारों में व्यक्त है, इसकी सम्भव चेष्टा की गई है। जहां कल्पना का सहारा लिया गया है, वह केवल चरित्र के गौण पृष्ठ भाग से ही सम्बन्धित है। कल्पना का आधार भी ऐतिहासिक आधारों पर आधारित है।

धर्मराज नाटक रंगमंच के लिए नहीं, विद्यार्थियों के लिए लिखा गया है। इसके द्वारा छात्र-छात्राएं अशोक के ऐतिहासिक विवरण से नहीं, उसके धर्माचार और भारत पर उसके व्यापक सांस्कृतिक प्रभाव से भली-भांति परिचित हों, इसकी तरफ मैंने खास ध्यान दिया है। मैं आशा करता हूं, इससे अशोक के धर्माचार के साथ ही बौद्ध धर्म का उदात्त रूप भी छात्र-छात्राओं के मन पर अंकित हो जाएगा और वे इससे पूरा लाभ उठावेंगे।

ज्ञानधाम प्रतिष्ठान }
दिल्ली-शाहदरा }
१०-१०-५६ }

—चतुरसेन

पात्र-परिचय

पुरुष-पात्र

लल्ल	—	कलिगराज का महानायक
युवक	—	मथुरा के श्रेष्ठिवर धनगुप्त का पुत्र उपगुप्त
सम्राट्	—	चक्रवर्ती अशोक
भिक्षु	—	मोगलिपुत्र भगवान् तिष्य
महानायक	—	सम्राट् अशोक का महानायक
कुमार	—	पुरुष-वेश में कलिग-राजकुमारी
कलिगमहाराज	—	कलिग महाराज महेन्द्रादित्य
धर्ममहामात्र	—	धर्म-आज्ञाओं का प्रचारक
राधागुप्त	—	सम्राट् अशोक का महामंत्री
धर्मविवर्धन	—	राजमहिषी पद्मावती का पुत्र राजकुमार, बाद में कुणाल
महेन्द्र	—	अशोक-पुत्र राजकुमार, बाद में सिंहल में धर्मदूत महामहेन्द्र
आरामिक	—	संधाराम का कर्मचारी
डाकू	—	संधाराम को जलाने और लूटने वाले डाकुओं के दल का सरदार, बाद में भिक्षु धर्मपाल

मंत्री	—	अनुराधापुर (सिंहल) के महाराज तिष्य का मंत्री
राजा	—	अनुराधापुर (सिंहल) का राजा तिष्य
श्रामनेर	—	राजकुमार महेन्द्र का पुत्र, भिक्षु
स्थविर इट्टिय	—	संघ-स्थविर
सेनापति	—	गान्धार का सेनापति
दीपवर्धन	—	गान्धार में धर्मपाल पद पर नियुक्त राजपुरुष
युवराज	—	अशोक का पौत्र, धर्मविवर्धन का पुत्र सम्प्रति
कोदिनीपुत्र	—	कुक्कुटाराम का संघ-स्थविर
राजा उत्तीय	—	सिंहल के महाराज तिष्य का पुत्र, सिंहल का राजा

महाजन, राजसेवक, सैनिक, नागरिक, दण्डधर, राजघोषक, श्रोत्रिय, श्रावक, दिगम्बर, भिक्षु, कापालिक, ग्रामीण, मुखिया, राजसभासद, कंचुकी, दूत, वधिक आदि

स्त्री-पात्र

राजकुमारी	—	कलिंग-राजकन्या, बाद में अशोक की राजमहिषी असन्धिमित्रा
कुन्द	—	श्रेष्ठ उपगुप्त की पत्नी
रानी	—	कलिंग-राजमहिषी
पद्मावती	—	अशोक-राजमहिषी
चारुशीला	—	अशोक-राजकुमार महेन्द्र की पत्नी
संघमित्रा	—	अशोक-राजकुमारी, बाद में सिंहल में भिक्षुणी
देवी विदिशा	—	अशोक-राजमहिषी, महेन्द्र की माता
रानी	—	अशोक-राजमहिषी तिष्यरक्षिता

चेटी, उपचारिका, वेत्रवती, विद्याधरी, गान्धर्वी, दासी आदि

प्रस्तावना

[चक्रवर्ती मगध सम्राट् अशोक ने कलिंग के युद्ध में एक लाख प्राणियों का वध करके कलिंग जय किया । कलिंगपति महाराज मृगेन्द्र युद्धक्षेत्र से नहीं लौटे । उनका युद्ध-क्षेत्र में वध हुआ, या उन्होंने कहीं पलायन किया—इसका किसीको पता नहीं लगा । कलिंग-राजकुमार भी कहीं अन्तर्धान हो गए । चक्रवर्ती ने सर्वत्र ढिंढोरा फिरवा दिया कि जो कोई कलिंग-राजपरिवार को आश्रय देगा, उसका वध किया जाएगा । तथा जो कोई कलिंगराज या राजपुत्र को जीवित या मृत पकड़कर चक्रवर्ती की सेवा में ला उपस्थित करेगा, उसे दस सहस्र स्वर्णमुद्रा पारितोषिक दी जायेंगी ।

कलिंग-राजमहिषी और कलिंग-राजकुमारी शैलबाला राज्य के विश्वासी महानायक लल्ल के साथ पुरुष-वेश में छिपकर इस विपत्काल में मथुरा के श्रेष्ठ धनगुप्त का आश्रय पाने के लिए मथुरा आई ।]

पहला अंक

पहला दृश्य

[सूर्य छिप रहा है । वनविहंगम भांति-भांति के शब्द करते हुए कुछ उड़ रहे हैं, कुछ वृक्षों पर बसेरा ले रहे हैं । उनके कलरव से वह सान्ध्यवन मुखरित है । तभी हारे-थके विलम्बकलांत कर्लिंग-राजपरिवार के ये तीन व्यक्ति मथुरा के नगर-द्वार तक पहुँचते हैं ।]

राजकुमारी—अब और कितना चलना पड़ेगा, महानायक ?

लल्ल—(कंपित करुण स्वर में) अब तो हम आ पहुँचे राजकुमारी, यह सामने ही तो नगरद्वार है । बस, थोड़ा धैर्य और ।

राजकुमारी—अब तो चला नहीं जाता । देखो, मेरे पैर क्षत-विक्षत हो गए हैं । (वहीं एक शिलाखण्ड पर बैठ जाती है ।)

रानी—(कोमल स्नेहाद्रि स्वर में) बेटी, यहां मार्ग में विलम्ब करने से क्या होगा ? सूर्य छिप गया है, कहीं द्वार बन्द हो गए तो बाहर ही रात काटनी होगी । फिर वन्यपशु लल्ल को रात भर सोने न देंगे ।

राजकुमारी—(आन्त भाव से) किन्तु...

रानी—लल्ल, क्या तुम्हें आशा है कि श्रेष्ठि हमें आश्रय देंगे ? वे हमें पहचान सकेंगे, तथा हमारा भेद गुप्त रख सकेंगे ?

लल्ल—श्रेष्ठि धनगुप्त महाराज के परम मित्र, अनुगृहीत और सेवक हैं । वे हमें अवश्य आश्रय देंगे ।

रानी—तो बेटी, थोड़ा साहस करो, चलो । अन्धकार बढ़ रहा है । (हाथ का सहारा बेकर उठाती है । तीनों धीरे-धीरे चलकर नगरद्वार की ओर चलते हैं । दूर कोई गा रहा है ।)

तेरी,
धीमी-धीमी चाल ।
सूना पथ है,
छायाकुल
उत्पीड़ित-सी हो गई धरा ।
कह पंथी,
कहां तुझे जाना है,
तेरी,
धीमी-धीमी चाल ।

स्निग्ध दृश्यों में,
मन्द मन्द,
पीड़ा प्रवाह,
विवश उसासों का भरना ।
कह पंथी,
कहां तुझे जाना है,
तेरी,
धीमी-धीमी चाल ।

पद प्रहार,
किसलिए,
अरे, उत्पल पर सुमन प्रहार ।
कह पंथी,
कहां तुझे जाना है,
तेरी,
धीमी-धीमी चाल ।

सजल लहर-सी,
 चरण-रेख,
 घूमिल शून्य गगन ।
 कह पंथी,
 कहां तुझे जाना है,
 तेरी,
 धीमी-धीमी चाल ।

दूसरा दृश्य

स्थान—मथुरा की एक वीथी ।

समय—रात्रि का प्रथम प्रहर ।

[राज-अतिथि थकित भाव से एक वृक्ष के नीचे आश्रय लेते हैं । लल्ल एक भग्न अट्टालिका को ध्यान से देखता है । एक युवक द्वार से आगे बढ़कर बाहर आता है ।]

लल्ल—मित्र, क्या आप हमें श्रेष्ठिवर धनगुप्त की हवेली बताने की कृपा करेंगे ?

युवक—यही है श्रीमन् ! आपका कहाँ से पधारना हुआ है ।

लल्ल—(हंसकर) हमसे ठूठा मत करो मित्र । हम परदेशी हैं, असहाय हैं, हम नगर-श्रेष्ठि धनगुप्त की हवेली में जाना चाहते हैं ।

युवक—तो आइए, भीतर आइए । चरण-रज से घर को पवित्र कीजिए ।

लल्ल—किन्तु... यह टूटा-फूटा घर । नहीं-नहीं, यह नगर-श्रेष्ठि की हवेली

नहीं हो सकती । तुम क्या महाश्रेष्ठि धन-कुबेर धनगुप्त को जानते हो मित्र ?

युवक—श्रीमान्, आपका यह दास उन्हींका पुत्र है ।

सल्ल—तुम ? आप श्रेष्ठि धनगुप्त के पुत्र, और उनका यह घर ? आपका शुभ नाम ?

युवक—सेवक का नाम उपगुप्त है ।

सल्ल—उपगुप्त । उपगुप्त । ठीक है, ठीक है । सचमुच आप...किन्तु श्रेष्ठिवर कहां हैं ?

युवक—(ठंडी सांस लेकर) पितृचरण के स्वर्गवास को आठ बरस हो गए ।

सल्ल—स्वर्गवास ??? (हुंकार के साथ गहरी श्वास)

युवक—मैं समझ गया । श्रीमान् अवश्य ही पितृचरण के बन्धु हैं । मेरा अभिवादन स्वीकार कीजिए । (पृथ्वी पर माथा टेक देता है ।)

सल्ल—(रोते हुए उठाकर आलिंगन करके) उपगुप्त श्रेष्ठिवर, तुम्हें आज छाती से लगाकर छाती ठंडी हो गई पुत्र ! (रोते हुए) समझ गया । पिता के बाद लक्ष्मी ने भी उसके पुत्र को त्याग दिया । (गहरी श्वास लेकर) हाय रे कराल काल, जिसके पोत पृथ्वी के सात समुद्रों में अबाध रूप से चला करते थे, यवन-चीन-कम्बोज और सिंहल तक जिसकी हुंडी चलती थी—उसका पुत्र यह नंगे पांव, वस्त्रों से विपन्न खड़ा राजपथ पर अतिथि-सत्कार कर रहा है । और जहां द्वार पर सैनिकों और हाथियों की पंक्ति रहती थी, उस द्वार पर आज जीर्ण कपाट भी न रहे । हाय रे निर्मम विधाता ।

युवक—(भरे गले से) आर्य, यह तो मैं समझ गया कि आर्य पितृ-तुल्य पूज्य हैं । आज मेरा जन्म इन चरणों की धूल से कृतार्थ हो गया । अब आर्य अपना परिचय देकर दास को अनुगृहीत करें ।

लल्ल—(भारी कण्ठ से गहरा श्वास लेकर) श्रेष्ठिवर उपगुप्त, नगर-श्रेष्ठि धनगुप्त को केवल चञ्चला लक्ष्मी ही ने त्यागा । पर उनका विनय, सौजन्य और अतिथि-सत्कार उनके पुत्र में वैसा ही है, जो श्रेष्ठिवर की सब सम्पत्ति से बढ़कर अमूल्य था । किन्तु पुत्र, अब परिचय की आवश्यकता नहीं । तुम्हारा कल्याण हो । मैं अब चला । (चल देता है ।)

युवक—(उद्वेग से चिल्लाकर) आर्य, दरिद्र होने से आप इस दास को त्याग रहे हैं । ऐसा कदापि न होने पाएगा । श्रीमान्, यदि मेरा आतिथ्य स्वीकार न करेंगे तो मैं प्राण त्याग दूंगा । आर्य, मैं कभी झूठ नहीं बोलता ।

लल्ल—(रुककर क्षणभर स्तब्ध रहकर गम्भीर स्वर में) श्रेष्ठिवर, मेरे साथ और भी लोग हैं । देखो, वे सामने उस वृक्ष के सामने खड़े हैं ।

युवक—(उत्तेजना से) आह, आपने कहा नहीं ।

[उस ओर दौड़ता है ।]

लल्ल—(रोककर) ठहरो, श्रेष्ठिवर मेरी बात पहले सुन लो । निश्चय ही हम लोग आपके पिता का आश्रय प्राप्त करने के लिए ही यहां आए थे—पर अब नहीं । हम आपको अपने कारण विपत्ति और चिन्ता में नहीं डालेंगे ।

युवक—तब आर्य मैं निश्चय ही प्राण त्याग करूंगा ।

लल्ल—नहीं श्रेष्ठि, आपका आतिथ्य स्वीकार न करने के कारण है ।

हमारे कारण आप भारी विपत्ति में फंस सकते हैं ।

युवक—तो इससे क्या, मैं तो प्राण देकर भी हर्षित होऊंगा ।

लल्ल—यह ठीक नहीं होगा श्रेष्ठि ।

युवक—आर्य, आज तक मैं अपने दारिद्र्य के लिए लज्जित नहीं हुआ ।

क्या आर्य अब मुझे लज्जित करेंगे ?

लल्ल—नहीं नहीं, श्रेष्ठिराज, बात कुछ और ही है। अच्छा, तो मैं स्वामी का मत भी ले लूँ।

युवक—मैं स्वयं ही उनके चरणों में प्रार्थना करूँगा। चलिए।

लल्ल—चलो श्रेष्ठिवर,

[दोनों वृक्ष के नीचे पहुँचते हैं।]

युवक—(लल्ल से) आपकी चरण-रज ग्रहण करके अनुगृहीत हुआ। अब आर्य अपना और इन पूज्यों का भी परिचय देकर मुझे कृतार्थ करें।

लल्ल—श्रेष्ठिराज, यह कलिंगराज-महिषी पट्ट महारानी चन्द्रलेखा और यह कलिंगराज-नन्दिनी शैलबाला हैं। मगध के प्रतापी सम्राट् चण्डाशोक ने कलिंग का महाराज्य भंग कर डाला है। हमारे एक लाख योद्धाओं का युद्ध-भूमि में हनन हुआ। महाराज युद्ध-भूमि से लौटे नहीं, न उनका शरीर ही प्राप्त हुआ है। राजकुमार हरि-द्वार में चिदानन्द स्वामी के आश्रम में गुप्तवास कर रहे हैं। मैं महानायक भट्टारक वादीय लल्ल हूँ। राज-परिवार घोर विपत्ति में पड़ गया। तब इन महिलाओं को लेकर मैं आपके पिता के आश्रय की कामना से चल पड़ा। धनगुप्त श्रेष्ठिराज को छोड़ और कौन इन राज-अतिथियों को आश्रय दे सकता था। चण्डाशोक ने सर्वत्र चर छोड़े हैं। जो कोई राज-परिवार और कुमार जितेन्द्र को पकड़ा देगा, उसे दस सहस्र स्वर्णमुद्रा दी जायेंगी। और जो कोई इस परिवार को आश्रय देगा उसे प्राणदण्ड होगा। श्रेष्ठिराज, इसीलिए हम आपकी इस दुरवस्था में आपको विपत्ति में डालना नहीं चाहते थे।

युवक—राजमाता, और राजपुत्री तथा आर्य के चरणों से यह घर तो पवित्र हुआ ही, अब आपकी सेवा से इस शरीर को धन्य करूँगा। आइए महाभाग्य, भीतर चलिए।

लल्ल—परन्तु श्रेष्ठि, सावधान रहना। आपकी पत्नी भी यह भेद न

जान पाए । तथा इनका पुरुष-परिचय ही देना ।
युवक—ऐसा ही होगा आर्य ।

[सब घर में आते हैं ।]

तीसरा दृश्य

समय—स्थान वही

[घर के एक बाहरी कक्ष में श्रेष्ठि उपगुप्त और उनकी पत्नी कुछ धीरे-धीरे बात कर रहे हैं ।]

उपगुप्त—कुन्द, मेरे स्वर्गीय पिता के मित्र हमारे पूज्य अतिथि आए हुए हैं । उनका अतिथ्य सत्कार जैसे बने करना ही होगा ।

कुन्द—किन्तु घर में कुछ भी नहीं है । अतिथि खायेंगे क्या ?

उपगुप्त—(कुछ देर चुप रहकर) क्या किसी तरह भी कुछ व्यवस्था नहीं हो सकती ? क्या और कोई आभूषण नहीं है ?

कुन्द—नहीं ।

उपगुप्त—तब कोई अनावश्यक पात्र बन्धक रख दिया जाए ।

कुन्द—यही करना होगा, और उपाय ही क्या है ?

उपगुप्त—(लज्जित-सा धीमे स्वर में) किन्तु कुन्द, तुम ही इसकी व्यवस्था कर लेना, जिसमें हमारा नाम न प्रकट हो ।

कुन्द—किन्तु.....

[इसी समय बाहर द्वार पर सांकल खटखटाने का शब्द होता है]

फिर दो बार 'खोलो द्वार' 'द्वार खोलो' का शब्द होता है ।

उपगुप्त—अरे भाई कौन है ?

कर्कश शब्द—द्वार खोलो, द्वार खोलो । (सांकल खटकती है)

उपगुप्त—देखो तो कुन्द, कोन आया है।

कुन्द—(देखकर भयभीत स्वर में कुछ फुसफुसाकर) अरे, यह तो ऋणदाता महाजन हैं। अब क्या होगा ?

उपगुप्त—(जाकर और खोलकर) साथ में राजकर्मचारी भी हैं।
[बाहर से द्वार खटखटाने का शब्द होता है तथा 'खोलो'
'द्वार खोलो' की पुकार आती है।]

कुन्द—हाय, अब क्या होगा ?

उपगुप्त—घबराओ नहीं। तुम भीतर जाओ, मैं उनसे बात करता हूँ।

[द्वार खोलकर]

आइए, महानुभाव, आपका स्वागत है।

महाजन—(कर्कश स्वर में) श्रेष्ठ उपगुप्त, हमारा चूकता पावना अभी चुकाओ अथवा बन्दीगृह जाओ।

उपगुप्त—(घबराए स्वर में, विनीत भाव से) मित्र, आप तो जानते ही हैं कि मैं इस समय कितने कष्ट में हूँ। फिर, आज मेरे घर में पूज्य अतिथि आए हुए हैं। श्रेष्ठिवर, कुछ और धैर्य धारण कीजिए, नहीं तो बड़ा अनर्थ हो जाएगा।

महाजन—(अवज्ञा की हंसी हंसकर) मैं ऐसा मूर्ख नहीं हूँ। रकम भी छोटी नहीं है। फिर अब और धैर्य किस आशा पर ? दस सहस्र स्वर्णमुद्रा अभी दो, अन्यथा ये कर्मचारी तुम्हें बन्दी कर लेंगे।

उपगुप्त—तब मित्र मुझे कुछ क्षणों का अवकाश दीजिए। मैं अपने पूज्य अतिथियों तथा पत्नी की कुछ व्यवस्था कर दूँ।

राजसेवक—(अधिक कर्कश स्वर में) अजी, हम इसके लिए बाध्य नहीं हैं। यह कहो कि क्या तुम अभी वह धन देते हो ?

उपगुप्त—नहीं, धन नहीं है।

राजसेवक—तब सैनिको, इन्हें बांध लो।

[सिपाही उपगुप्त को बांधते हैं। बहुत आदमी एकत्र हो जाते हैं। श्रेष्ठ को सिपाही ले जाते हैं। कुन्द यह देख मूर्च्छित

हो जाती है। लोग शोर मचाते हैं। क्या हुआ, क्या हुआ, अरे, श्रेष्ठ की पत्नी को सम्हालो। चलो, चलो, भीड़ हटाओ, आदि का शब्द।]

चौथा दृश्य

स्थान—श्रेष्ठ के घर का एक कक्ष

समय—प्रातःकाल

[लल्ल, महारानी और राजकुमारी विचार-विमर्श कर रहे हैं।]

महारानी—लल्ल, यह तो बड़ी खराब बात हो गई। अब श्रेष्ठ को हमें प्राण देकर भी इस कष्ट से छुड़ाना होगा।

लल्ल—यह तो बड़ी कठिन समस्या है महारानी। हमारे पास धन नहीं है, फिर भेद फूटने का भी भय है।

राजकुमारी—माता, यह बहुत ही सरल है। एक उत्तम उपाय मुझे सूझा है।

महारानी—तू क्या करेगी भला ?

राजकुमारी—(हंसकर) भैया से मेरी आकृति मिलती है न ? क्यों महानायक ?

महारानी—यह क्या हास्य का प्रसंग है।

राजकुमारी—नहीं मां (धीरे से फुसफुसाकर) पुरुष वेश में मैं भैया ही प्रतीत होती हूँ। तुम्हीं तो कई बार कह चुकी हो।

महारानी—हां, पर इससे क्या ?

राजकुमारी—भैया को जीवित या मृत पकड़वाने का पुरस्कार दस

हजार स्वर्ण है। इतना ही तो श्रेष्ठ को चाहिए। मैं अपने को भैया की जगह पकड़ा देती हूँ। उस धन से श्रेष्ठ मुक्त जाएंगे।

[खिलखिलाकर हंसती है]

महारानी—(घबराये स्वर में) वाह, यह कैसी बात ?

राजकुमारी—महानायक, आप श्रेष्ठ-पत्नी से कह दीजिए कि उसके घर में कलिंग-राजकुमार छिपा हुआ है, जिसके सिर पर दस सहस्र स्वर्ण पारितोषिक है। उसे पकड़ाकर यह धन प्राप्त कर अपने पति को छुड़ा लें !

लल्ल—शान्तं पापं, शान्तं पापं, भला ऐसा भी कहीं हो सकता है ?

राजकुमारी—खूब अच्छी तरह हो सकता है।

लल्ल—परन्तु यह अत्यन्त भयानक है।

राजकुमारी—चाहे जो कुछ भी हो।

रानी—यह तेरा पागलपन है।

राजकुमारी—किन्तु मैंने सब बातों पर विचार कर लिया है।

रानी—किन बातों पर।

राजकुमारी—इसमें दो लाभ होंगे। एक तो श्रेष्ठ मुक्त हो जाएंगे। दूसरे, भैया की खोज-जांच रुक जाएगी। वे सुरक्षित रह सकेंगे।

रानी—परन्तु चक्रवर्ती के ये बर्बर सैनिक कैसी निर्दयता से तेरा वध करेंगे। चक्रवर्ती तक जीवित पहुँच भी गई तो वह शत्रु तुझे क्या जीवित छोड़ेगा ?

राजकुमारी—(लजाकर स्निग्ध स्वर में) मां, चक्रवर्ती की आज्ञा भैया को जीवित ही पकड़ने की है। जीवित पकड़कर वे वध नहीं करेंगे। चक्रवर्ती के सम्मुख ले जायेंगे। वहाँ पहुँचकर मैं चक्रवर्ती से निबट लूंगी।

रानी—न-न, मैं तुझे यह दुस्साहस न करने दूंगी। चलो, हम लोग यहां से चल दें।

राजकुमारी—(तीखे स्वर से रोती हुई-सी) क्या श्रेष्ठ-वधू को इस

विपन्नावस्था में असहाय छोड़कर ? आज कलिंग-राजमहिषी इतनी स्वार्थरत हो गई कि जिसका उदार आश्रय प्राप्त किया उसे ही इस विपन्नावस्था में छोड़ जायेंगी ।

लल्ल—(खांस-खलारकर गम्भीर कण्ठ से) राजकुमारी ठीक कह रही है, राजमाता ! विशिष्ट अवसरों पर ही विशिष्ट पुरुष अपना त्याग और उत्सर्ग प्रकट करते हैं । राजकुमारी का त्याग उनके वंश के अनुरूप है । चाहे जो भी हो, श्रेष्ठिबर को मुक्त कराना ही होगा ।

महारानी—तब क्या दूसरा उपाय नहीं है ?

लल्ल—नहीं ।

राजकुमारी—माँ, मैं कलिंग की राजकुमारी हूँ । शस्त्र-विद्या और अश्वारोहण में पिता ने मुझे भैया ही के समान शिक्षा दी है । अब एक बार मे चक्रवर्ती के सम्मुख जाकर स्वयं उसके इस पातक और अत्याचार के सम्बन्ध में पूछना चाहती हूँ । इससे अवश्य हमारा भी कल्याण होगा ।

महारानी—तो लल्ल, तुम श्रेष्ठि-वधू से कह दो कि तुम्हारे घर में कलिंग का राजकुमार छिपा हुआ है, उसे पकड़ाकर श्रेष्ठि को छोड़ा लो ।

लल्ल—मुझे तो कहा न जाएगा । राजकुमारी ही कहें ।

राजकुमारी—महानायक, तुम्हीं जाकर कहो, जिससे भेद न फूटे । जाओ, अभी जाओ ।

लल्ल—(भारी सांस लेकर) तब जाता हूँ । वाह री भाग्य-विडम्बना ।

[जाता है]

पांचवां दृश्य

समय—प्रातःकाल

स्थान—वही

[लल्ल और श्रेष्ठिवधू कुन्द बातें कर रहे हैं ।]

कुन्द—(घबराई आवाज में) क्या कलिंग का राजकुमार ?

लल्ल—जी हां, यह युवक वही कलिंग-राजकुमार है, जिसे मृत या जीवित पकड़वाने वाले को चक्रवर्ती ने दस सहस्र स्वर्ण पारितोषिक घोषित किया है। इतने ही में तो श्रेष्ठि छूट जाएंगे।

कुन्द—और मैं उन्हें पकड़ा दूँ ? अतिथि को। जो मेरे पति के ही पूज्य नहीं, उनके पूज्य स्वर्गीय पूज्य पिता के भी पूज्य हैं। महोदय, आप वृद्ध हैं, सब भांति पूजनीय हैं। मुझे आपसे ऐसे नीच प्रस्ताव की आशा न थी। आप तो अपने ही स्वामी से विश्वासघात कर रहे हैं। मैं विपन्नावस्था में अवश्य हूँ, परन्तु अभी मुझमें कर्तव्य-बुद्धि है।

लल्ल—किन्तु श्रेष्ठिवधू, राजकुमार ने स्वयं यह प्रस्ताव करके मुझे आप के पास भेजा है।

कुन्द—(भय और आश्चर्य से) क्या स्वयं राजकुमार ने ?

लल्ल—जी हां, उन्हीं के अनुरोध से तो यहां आया हूँ।

कुन्द—तो कुमार की उदारता और त्याग की सीमा नहीं है। उनके चरणों में मेरा शत-शत प्रणाम कहिए और मेरी ओर से निवेदन कर दीजिए कि मुझ विपदग्रस्ता असहाया स्त्री को अधर्म की राह न दिखाएं। भला कहीं अतिथि के साथ भी विश्वासघात हो सकता है !

लल्ल—विश्वासघात कैसा ?

कुन्द—नहीं-नहीं, शान्त पापं, शान्त पापं। मेरे कान जल जाएं, मेरी वाणी मूक हो जाय। ऐसी बात मुझसे मत कहिए।

[राजकुमारी आती है]

लल्ल—लो, वे राजकुमार स्वयं ही आ रहे हैं।

कुन्द—अभिवादन करती हूँ पूज्यवर, मुझ विपदग्रस्ता का अपराध आप क्षमा कीजिए । इस आकस्मिक वज्रपात के कारण आपका आतिथ्य भी.....

[सिसक-सिसककर रोने लगती है ।]

राजकुमारी—देवी, आप मेरा अनुरोध मान मेरी यह तुच्छ भेंट स्वीकार-कर मुझे प्रसन्न कीजिए ।

कुन्द—नहीं-नहीं, शांत पापं, शांत पापं ।

राजकुमारी—आप पति-प्राणा साध्वी और धर्मात्मा हैं । आपका सौभाग्य अचल रहे । श्रेष्ठिवर महान् पुरुष हैं । मुझे प्रसन्नता होगी कि मेरा शरीर मित्र के काम आए ।

कुन्द—(रोते-रोते) राजकुमार, हमें विपन्न समझ, आप हमारा अपमान कर रहे हैं । भला ऐसी अधर्म की बात आपके मुख से शोभा देती है ?

राजकुमारी—इसमें अधर्म क्या है श्रेष्ठिवधू, मुझे तो स्वयं चक्रवर्ती की सेवा में जाना ही है ।

कुन्द—पर मैं यह कुकृत्य नहीं करूंगी, नहीं करूंगी ।

राजकुमारी—तो श्रेष्ठि कैसे छूटेंगे ?

कुन्द—चाहे जो भी हो, मैं सहन करूंगी ।

राजकुमारी—नहीं-नहीं, कदापि नहीं, तब मुझे स्वयं ही यह कार्य करना होगा ।

कुन्द—आह राजकुमार, अधर्म की बात मुंह पर मत लाइए । ऐसा मत कहिए ।

राजकुमारी—देवी, दूसरा उपाय नहीं है । फिर मुक्त होने पर श्रेष्ठि किसी न किसी उपाय से मुझे मुक्त करा ही लेंगे । फिर यह तो मैं स्वयं ही कह रहा हूँ । आपका दोष नहीं है । सोचिए तो श्रेष्ठिवर को वहां कितना कष्ट होगा ।

कुन्द—नहीं, नहीं ।

[कुन्द सिसक-सिसककर रोती हुई भूमि पर गिर जाती है ।]

राजकुमारी—महानायक, शोक और दुःख से श्रेष्ठिवधू अभिभूत हो गई

हैं। अब हमें ही सब काम करना होगा, तुम स्वयं जाओ। यह संदेश राजद्वार पर ले जाओ और नगराध्यक्ष को बुला लाओ।

लल्ल—(भरे कण्ठ से) जाता हूं। तुम्हारा कल्याण हो।

[जाता है]

कुन्द—(कुछ अचेतावस्था में) नहीं, नहीं, मत जाइए, मत जाइए।

[मूर्छित हो जाती है।]

छठा दृश्य

स्थान—श्रेष्ठ की हवेली

समय—मध्याह्न

[बहुत से सशस्त्र सैनिक आते हैं।]

एक—घेर लो, हवेली को घेर लो।

दूसरा—कहां है कलिंग राजकुमार ?

तीसरा—सावधान रहो, भागने न पाए।

कुन्द—(रोती हुई द्वार रोककर) नहीं-नहीं, यहां कलिंग का राजकुमार नहीं है। नहीं है।

सैनिक—श्रेष्ठवधू, तुमने बुद्धिमानी का काम किया है। अब तुम द्वार से हट जाओ। हमें चोर को पकड़ने दो।

कुन्द—मैं अबला स्त्री हूं। मुझपर अत्याचार मत करो। जाओ, चले जाओ।

सिपाही—पर कलिंग का राजकुमार कहां है ?

राजकुमारी—(धीर गति से आकर) मैं कलिंग का राजकुमार हूं, तुम्हारा मुझसे क्या प्रयोजन है ?

सिपाही—अजी, यह रहा, यह रहा—राजकुमार, भागने की चेष्टा करना व्यर्थ है। शस्त्र रख दो।

नायक—सिपाहियो, बांध लो।

सिपाही—बांध लो।

लल्ल—लाओ तोड़े।

नायक—गिन लो भाई, दस हजार स्वर्ण मुद्रा।

[लल्ल स्वर्ण गिनता है। बहुत से मनुष्यों की भीड़ एकत्र हो जाती है। शोर मचता है।]

कुन्द—अरे, अधर्म मत करो। भाइयो, मेरा और मेरे पति का कुल कलंकित हो जाएगा।

नायक—चलो जी, ले चलो। चलिए राजकुमार।

राजकुमारी—चलो भाई चलो।

[जाते हैं]

एक नागरिक—अनर्थ हुआ। अधर्म हो गया।

दूसरा—राजकुमार जैसा सुकुमार है, वैसा ही वीर साहसी भी है।

तीसरा—पर श्रेष्ठ का विश्वासघात अक्षम्य है।

पहला—श्रेष्ठ का नहीं रे, सेठानी का कह। क्या तूने नहीं सुना, स्त्री की बुद्धि में विवेक नहीं रहता।

कुन्द—हाय, मेरा कुल कलंकित हो गया। मैं अधम अभी जीवित ही हूँ। (मूर्छित हो जाती है।)

रानी—(भरे कण्ठ से आंसू पोंछकर) जाओ महानायक, ये स्वर्ण-मुद्रा ले जाओ और श्रेष्ठवर को छोड़ा लाओ। तब तक मैं श्रेष्ठ-वधू का यत्न करती हूँ। (आंसू गिराती है।)

लल्ल—जाता हूँ, महारानी जाता हूँ। (आँखें पोंछता हुआ जाता है।)

सातवां दृश्य

स्थान—श्रेष्ठ की हवेली

समय—अपराह्न

[श्रेष्ठ अस्त-व्यस्त तेजी से घर में आता है ।]

श्रेष्ठ—किस महोदय ने इतनी कृपा की कुन्द, धन्य है वह । परन्तु हां, अतिथियों का तो ठीक सत्कार हुआ न ? किन्तु अरे ! यह तुम्हारा मुख सफेद क्यों हो गया । अंग, रोने लगीं ?

[वेग से रोती हुई पछाड़ खाकर भूमि में गिर जाती है ।]

श्रेष्ठ—क्या बात है कुन्द ? कुन्द, तुम्हें क्या दुःख है । तुम पहले उस कृपालु मित्र का नाम बताओ कुन्द । हमें उसका उपकृत होना है । उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करनी है ।

कुन्द—(हिचकियां लेते हुए) अधर्म, अधर्म, हे स्वामी अधर्म हो गया । हमारा कुल कलंकित हो गया । हम नष्ट हो गए । अब मैं जीवित कैसे रह..... (फूट-फूटकर रोना)

श्रेष्ठ—भगवान् के लिए साफ-साफ कहो । हमारे अतिथि तो कुशल से हैं ।

कुन्द—(रोते-रोते) कुशल कैसी ! राजकुमार ने तुम्हें छुड़ाने को स्वयं अपने को पकड़ा दिया । मैं...मैं...

[फपक-फपककर रोना]

श्रेष्ठ—क्या राजकुमार ने अपने को ?.....

कुन्द—मैं पापिष्ठा ही उस पाप की भागिनी हूं । मैं अपने को दोष-मुक्त नहीं कर सकती ।

श्रेष्ठ—(तड़पकर वेग से) क...क्या...क्या तुमने कुमार को पकड़ाकर यह धन प्राप्त किया ?

कुन्द—(रोते-रोते) हां स्वामी, हां स्वामी, हां, हां.....

श्रेष्ठ—और यह पातक तुमने किया ? मेरा जन्म, जीवन, यश, धर्म सभी

कुछ नष्ट हो गया । आह, कुन्द, बड़ा अनर्थ, बड़ा अधर्म हो गया । यह तुम्हारे जीते जी । नहीं-नहीं, तुम्हीं ने किया !!

[लल्ल आगे बढ़ता है ।]

लल्ल—श्रेष्ठ ! राजकुमार ने स्वयं ही स्वेच्छा से यह काम किया है । श्रेष्ठ-वधू का इसमें कोई दोष नहीं है । ये तो अन्त तक सहमत नहीं हुई थीं ।

श्रेष्ठ—(रोते-रोते) महानायक, अब क्या होगा ? मैं कैसे इस पातक से छुटकारा पाऊंगा । कैसे मैं अब प्राण देकर कुमार को मुक्त कर सकता हूँ । हाय ! हाय !! आप जैसे विवेकी वृद्ध के रहते यह कुकर्म हो गया । कुन्द, स्त्रियों से इसीलिए ज्ञानी पुरुष घृणा करते हैं । हा, हा, कुन्द, तुम सब स्त्रियों में अधम रहें । तुमने अपने स्वार्थ से विवेक खो दिया । पति के स्नेह के लिए पवित्र अतिथि की (भूमि में सिर पकड़ कर बैठ जाता है ।)

लल्ल—श्रेष्ठ, महारानी आ रही हैं ।

[महारानी आती हैं ।]

महारानी—श्रेष्ठ, देखिए । हमें तो इस घटना का कुछ भी दुःख नहीं है । फिर कुमार की इच्छा तो चक्रवर्ती की सेवा में जाने ही की थी । इसके अतिरिक्त वधू किसी तरह अपमान की पात्री नहीं है । जैसे आप धर्मात्मा, विनयी और महान् हैं, वैसी ही आपकी धर्मपत्नी भी हैं । श्रेष्ठवर, अब शोक त्यागकर यह उपाय सोचना चाहिए कि अब हमारा कर्तव्य क्या है ?

उपगुप्त—राजमाता, आप राह बताइए कि मैं प्राण देकर भी कैसे कुमार को ला सकूंगा ।

लल्ल—उत्तम यह होगा, हम भी सब लोग इन सिपाहियों के साथ छद्मवेश में राजधानी को चलें । वहाँ जैसा कुछ होगा, देखा जाएगा ।

रानी—ऐसा ही हो ।

श्रेष्ठि—(कुछ देर चुप रहकर शोक-दाग्ध स्वर में) कुन्द, सावधान हो जाओ । इन पूज्य अतिथियों की साक्षी में हम-तुम भी अब कुछ निर्णय करलें, जिससे हमारे किए कुकर्म का यत्किंचित् निराकरण हो जाए । यह तो तुमने देखा ही है कि यह धन कितने अभिमान और अधर्म की जड़ है । आओ, हम मन-वचन-कर्म से इस धन का त्याग करें । मैंने आज से श्रेष्ठिपद त्यागा, मैं दरिद्रराज हुआ । आज से धन मेरे लिए लोष्टवत हुआ, और तुम्हारे लिए भी कुन्द ।

कुन्द—जैसी आपकी आज्ञा आर्यपुत्र ।

श्रेष्ठि—अच्छा, अब आज से हम धन न छुएंगे ।

कुन्द—न छुएंगे ।

श्रेष्ठि—और सुनो, यह पति-पत्नी सम्बन्ध भी जैसा हमारे-तुम्हारे बीच है, दुःख और मोह का मूल है । आओ, आज हम इस सम्बन्ध का भी विच्छेद करें । कुन्द, आज से हम पति-पत्नी नहीं ।

कुन्द—जैसी आपकी आज्ञा ।

रानी—श्रेष्ठि, यह आप क्या कर रहे हैं ?

श्रेष्ठि—जो कुछ शुभ है, जो कुछ निरापद है, जो कुछ श्रेयस्कर है । तो कुन्द, तुम्हारा कल्याण हो । जाओ, जगत में विचरण करो । जन-जन की सेवा से जीवन को धन्य करो । मैं कुमार को छुड़ाकर यह व्रत लूंगा । अब मैं चला । कल्याण, कल्याण ।

[चल देता है । कुन्द चीख मारकर पृथ्वी पर गिरकर मूर्छित हो जाती है ।]

रानी—यत्न करो, यत्न करो । श्रेष्ठिवधू मूर्छित हो गई । चले गए श्रेष्ठि, पीछे फिरकर भी नहीं देखा । एक पद रुके भी नहीं । चले गए-चले गए—चले गए ।

[नेपथ्य गान]

ओ बन्धन में बसने वालो ।

उस एक मिलन की अभिलाषा उत्कण्ठा से,
मुखरित हो उठे नदी नद शैल अचल बन सूने ।
संकुचित अकेली नील-निशा में चली अचीह्नी राह ।
अभिलाष विसर्जन नेहपान वरदान बना प्रतिदान ।
ओ बन्धन में बसने वालो ।

जाग्रत प्राणों का ले उच्छ्वासों पर भार,
और अचीह्नी आशाओं का कर सोलह शृंगार ।
साधा जोग-जगी आकुलता-गति फूटी सौ बार ।
गिरा न देना, छोड़ न देना, बन जाना पतवार ।
ओ बन्धन में बसने वालो ।

सांसों की अकुलाहट-एक अश्रु और एक प्यार ।
भङ्कृत खण्डित टूटी वीणा का एक तार ।
उड़ गए फूल, रह गई गन्ध, बस निराधार ।
वह कौन विहंग गा रहा, अकेला बार-बार ।
ओ बन्धन में बसने वालो ।

आठवां दृश्य

स्थान—वन—पार्वत्य उपत्यका

समय—मध्याह्न

[वन में पक्षियों का तथा वन-पशुओं का शब्द बीच-बीच में ध्वनित हो रहा है । सम्राट् चक्रवर्ती अशोक धनुष पर बाण चढ़ाए घोड़ा दौड़ाता आता है । भयभीत हरिण वृक्ष की छांह में]

बैठे एक वृद्ध भिक्षु की गोद में जा छिपता है । भिक्षु हरिण के शरीर से बाण निकालकर उसका रक्त अपने आंचल से पोंछ उस पर पट्टी बांधता है ।]

सम्राट्—तू कौन है रे पाखण्डी ।

भिक्षु—तेरा कल्याण हो सम्राट् । मैं भिक्षु हूँ ।

सम्राट्—तो तेरा यह साहस कि मेरे आखेट को हाथ लगाए ।

भिक्षु—यह निर्दोष पशु भयभीत और आहत है । यह मेरी करुणा का पात्र है ।

सम्राट्—किन्तु इस पर मेरा अधिकार है ।

भिक्षु—इस पर तेरा अधिकार कैसे है सम्राट् ?

सम्राट्—यह मेरा आखेट है, मैंने इसे मारा है !

भिक्षु—मारने वाला तो किसीका स्वामी नहीं होता । शत्रु होता है सम्राट् । तू इतने बड़े राज्य का स्वामी होकर भी यह छोटी-सी बात नहीं जानता ।

सम्राट्—तू बड़ा धृष्ट है, यह मेरा आखेट है, छोड़ इसे ।

भिक्षु—यह दीन पशु मेरी करुणा के आश्रित है ।

सम्राट्—मैंने इसे मारा है ।

भिक्षु—मैंने इसकी रक्षा की है । अधिकार मारने वाले का नहीं, रक्षा करने वाले का होता है । इस दीन निर्दोष पशु ने तेरी कुछ भी हानि नहीं की सम्राट्, फिर तूने इसे क्यों मारा ? तू रक्षा करने के लिए सम्राट् है, मारने के लिए नहीं ।

सम्राट्—(कुछ रुककर) तू इसका क्या करेगा ?

भिक्षु—मैं इसे नीरोग करके छोड़ दूंगा । यह फिर उन्मुक्त वायु में छलांगें भरेगा, हरी-हरी घास खाएगा, निर्दोष जीवन बिताएगा ।

सम्राट्—तू धूर्त है । अवश्य इसका मांस खाएगा । तू मेरा आखेट हड़-पना चाहता है । छोड़ दे इसे, यह मेरा है ।

भिक्षु—(समता से पशु की पीठ पर हाथ फेरता हुआ) नहीं राजन,
यह मेरा है ।

सम्राट्—यह मेरा लक्ष्य है ।

भिक्षु—यह मेरा रक्ष्य है ।

सम्राट्—मैंने इसे बाण-बिद्ध किया, क्षत्रिय-धर्म से यह मेरा है ।

भिक्षु—मैंने बाण निकाल घाव पर पट्टी बांधी । भिक्षु-धर्म से यह मेरा
है ।

सम्राट्—यह मेरा आखेट ।

भिक्षु—नहीं ।

सम्राट्—क्या तेरी ऐसी स्पृधा है ? तू बड़ा दुःशील है ।

भिक्षु—मैं तथागत के शील की मर्यादा का पालन करता हूँ, क्या तूने
तथागत का नाम नहीं सुना ।

सम्राट्—नहीं ।

भिक्षु—और तू तथागत के शील को भी नहीं जानता ?

सम्राट्—नहीं, क्या है तथागत का शील ?

भिक्षु—मारने से बचाना श्रेष्ठ है । वह भूत-दया से प्रेरित क्रिया है ।
उसमें अनुकम्पा की सम्पदा का समावेश है । यदि यह पशु बोल
सकता ?

सम्राट्—तो क्या होता ?

भिक्षु—यह तुझे धिक्कार देता ।

सम्राट्—क्या मुझे, सम्राट् को ?

भिक्षु—सबसे अधिक । क्योंकि सम्राट् से तो वह अन्य मारने वालों से
रक्षा पाने का अधिकार रखता है ।

सम्राट्—यह पशु तुझे क्या समझता है ?

भिक्षु—तू इतना बड़ा सम्राट् होकर भी देखता नहीं । वह मेरी गोद में
निश्चिन्त है । आश्वस्त है । सम्राट्, तू इस निरीह पशु की भांति
यदि अपनी प्रजा को अपने राज्य में निश्चिन्त और आश्वस्त देखना

चाहता है— तो मेरी ही तरह अपनी प्रजा को अपने आश्रय में निश्चिन्त और आश्वस्त कर ।

सम्राट्—तू अन्यो से कैसा व्यवहार करता है ?

भिक्षु—तू हमारा कार्य और आदर्श देखना चाहता है तो मेरे साथ आ, और हमारे और अपने कार्यों और आदर्शों की तुलना कर ।

सम्राट्—तू मुझे कहां ले जाना चाहता है ?

भिक्षु—उन वृक्षों के झुरमुट में, पुष्करिणी के तीर पर, वहीं हमारा विहार है ।

सम्राट्—तेरी वाणी अर्थ-गम्भीर है, मुद्रा अभय है, चित्त दृढ़ है, दृष्टि प्रसन्न है । मैं तुझे देखकर प्रभावित हूं । चल, देखूं तेरा विहार ।

भिक्षु—स्वस्ति सम्राट्, आ मेरे साथ और देख स्वार्थ की मरुभूमि में कैसे करुणा की अजस्र मन्दाकिनी बहती है । क्रूर जीवन में कैसे दया जीवन का संचार करती है ।

[गोद में हरिण को उठा लेता है ।]

सम्राट्—तू वृद्ध है, हरिण के भार से तू क्लान्त है, वह भार मुझे दे । मैं अपना आखेट का अधिकार छोड़ता हूं । तेरा हरिण मैं लेकर चलता हूं ।

[हरिण को उठाना चाहता है, हरिण छटपटाकर उसकी गोद से गिर जाता है ।]

भिक्षु—(हरिण को उठा छाती से लगाकर) देखा तूने सम्राट्, वह तेरे गौरव और महान् सामर्थ्य का तिरस्कार करके तुझसे घृणा करता है । सम्राट्, घृणा से घृणा नहीं जीती जाती । प्रेम से घृणा जीती जाती है । तू देख रहा है सम्राट् ।

सम्राट्—(खोया-सा) देख रहा हूं और इससे अधिक देखना चाहता हूं ।

भिक्षु—तेरा कल्याण हो सम्राट्, आ मेरे साथ ।

[दोनों जाते हैं]

नवां दृश्य

[स्थान—मोग्गलिपुत्र तिष्य का विहार । सुन्दर पहाड़ी घाटी के बीच उद्यान । क्षीण कलेबरा नदी की धारा । पक्षियों का कलरव । भिक्षु धर्मसूत्र घोखते इधर से उधर आ-जा रहे हैं । हरिरण-मोर तथा अन्य पशु-पक्षी विचरण कर रहे हैं ।]

सम्राट्—(स्वगत) अहा, यह तो बड़ा ही मनोरम स्थान है । शान्त वातावरण, पक्षी और पशु मुझ आखेटक को भी देखकर निर्भय विचरण कर रहे हैं । यहां तो आप ही आप मन शान्त हो गया । जी चाहता है कि राज्य-प्रपंच को छोड़कर उस सघन छाया में बनी एक पर्णकुटी में जाकर चुपचाप बैठ जाऊं ।

[प्रचण्ड जयघोष होता है । बहुत से स्वरों में जय महा-मोग्गलिपुत्र भगवान् तिष्य की जय ।]

सम्राट्—(स्वगत) अयं, कहां हैं भगवान् मोग्गलिपुत्र तिष्य, जिनकी धर्म-कीर्ति देश-देशान्तरों में व्याप्त है । उनका तो दर्शन मनुष्य को दुर्लभ है, और जिसे एक बार उनका दर्शन हो जाता है उसका कल्याण हो जाता है । (देखकर) यह वही वृद्ध भिक्षु आ रहा है ।

तिष्य—(दोनों हाथ उठाकर) चक्रवर्ती सम्राट् तेरी जय हो । इस विहार में मैं तेरा स्वागत करता हूं ।

सम्राट्—तब क्या मैं साक्षात् भगवान् मोग्गलिपुत्र तिष्य के दर्शनों का लाभ ले रहा हूं ।

तिष्य—हां, सम्राट् मैं ही तिष्य हूं, कह तेरा क्या प्रिय करूं ?

सम्राट्—भगवन्, अभिवादन करता हूं ।

तिष्य—कल्याण ! कल्याण !

[सब भिक्षु एकत्र होकर प्रचण्ड जयघोष करते हैं—

‘भगवान् मोग्गलिपुत्र तिष्य की जय हो’]

सम्राट्—भगवन्, आपके दुर्लभ दर्शन पाकर आज मैं कृतार्थ हुआ । मेरी

अविनय को आप क्षमा करें। साम्राज्य के प्रचण्ड सम्मान और परिच्छद में मुझे ऐसी शान्ति नहीं मिली, जिसे आज इस क्षण प्राप्त कर रहा हूँ।

तिष्य—उस हरिण के विषय में अब तू क्या सोचता है सम्राट्, उस पर क्या अब भी तेरा अधिकार है ?

सम्राट्—नहीं प्रभु, आपका अधिकार है।

तिष्य—तो तू मानता है कि वध करने से रक्षा करना श्रेष्ठ है ?

सम्राट्—ऐसा ही मैं मानता हूँ प्रभु।

तिष्य—तो सम्राट्, तूने कलिंग में एक लाख मनुष्यों का वध किया है। मनुष्य तो सब प्राणियों में श्रेष्ठ है, राजा का निर्माण मनुष्य को अभय दान देने के लिए है।

सम्राट्—भगवन्, पाप हुआ है। इस नरवध से मैं संतप्त हूँ। आप मेरा उद्धार कीजिए। मैं आपकी शरण हूँ।

तिष्य—सम्राट्, धर्म में तेरी रुचि हुई। यह शुभ लक्षण है। सुन, शक्ति और अधिकार द्वारा अधीनों को वश में करने की अपेक्षा प्रेम और दया से प्राणी को जीतना श्रेयस्कर है।

सम्राट्—मानता हूँ भगवन्।

तिष्य—शरीर को अधीन करने की अपेक्षा आत्मा को वशीभूत करना श्रेयस्कर है।

सम्राट्—मानता हूँ भगवन्।

तिष्य—तो तू पृथ्वी का चक्रवर्ती सम्राट् है। शस्त्र से नहीं, सेना से नहीं, दया से, प्रेम से पृथ्वी की आत्मा को जय कर। इससे तेरा अक्षय साम्राज्य विश्व-व्यापी होगा। तेरी कीर्ति अमर होगी।

सम्राट्—मानता हूँ भगवन्।

तिष्य—तो सुन, क्षमा तेरा शस्त्र, दया तेरी नीति, और त्याग तेरा शासन होगा।

सम्राट्—मानता हूँ भगवन् !

तिष्य—तो सम्राट्, प्रथम कलिंग के दोष का परिहार कर ।

सम्राट्—भगवन्, आदेश दें, राह दिखाएं ।

तिष्य—भिक्षुओ, यह चक्रवर्ती चण्डाशोक यहां उपस्थित है । इसे निर्मल विरज ज्ञान-चक्षु उत्पन्न हुआ है । आज से यह 'प्रियदर्शी देवानां प्रिय' संसार में विख्यात हुआ ।

[सब सम्मिलित स्वर में जयघोष करते हैं ।]

जय, प्रियदर्शी-देवानां प्रिय चक्रवर्ती अशोक की जय !

प्रियदर्शी, देवानां प्रिय चक्रवर्ती अशोक की जय !!

प्रियदर्शी देवानां प्रिय चक्रवर्ती अशोक की जय !!

सम्राट्—(घुटने टेककर) भगवन्, मैं अंजलिबद्ध श्रावक हूँ ।

तिष्य—बैठ सम्राट् । यह दुःख उत्तम सत्य है । जन्म दुःख है, नाश दुःख है; रोग दुःख है, मृत्यु दुःख है, जिन वस्तुओं से हम घृणा करते हैं, उनका उपस्थित होना दुःख है । जिन वस्तुओं की हम कामना करते हैं, उनका न मिलना दुःख है ।

सम्राट्—समझ गया भगवन् ।

तिष्य—दुःख के कारण का उत्तम सत्य यह है : लालसा, पुनर्जन्म का कारण होती है, जिसमें कि सुख और लालच होते हैं और जो इधर-उधर भटकाती है । यह लालसा तीन प्रकार की होती है । एक सुख की लालसा, दूसरी जीवन की लालसा, तीसरी फलने-फूलने की लालसा ।

सम्राट्—समझ गया भगवन् ।

तिष्य—तो सम्राट्, दुःख के दूर होने का उत्तम सत्य यह है कि वह लालसा के पूर्ण निरोध से समाप्त होता है । यह निरोध किसी कामना की अनुपस्थिति से, लालसा को छोड़ देने से, लालसा के बिना कार्य चलाने से, उससे मुक्ति पाने से, और कामना का नाश करने से होता है ।

सम्राट्—समझ गया भगवन् !

तिष्य—यह उस मार्ग का उत्तम सत्य है, जिससे कि दुःख दूर होता है ।
वह पवित्र आठ प्रकार का मार्ग यह है—

सत्य विश्वास
सत्य कामना
सत्य वाक्य
सत्य व्यवहार
सत्य जीवन-निर्वाह का मार्ग
सत्य उद्योग
सत्य विचार
सत्य ध्यान

सम्राट्—समझ गया भगवन् !

तिष्य—तो सम्राट्, जीवन दुःख है । जीवन और उसके सुखों की लालसा दुःख का कारण है । इस लालसा के मर जाने से दुःख का अन्त हो जाता है और पवित्र जीवन से यह लालसा मर जाती है । पवित्र जीवन की यही आठ निधियां हैं ।

सम्राट्—समझ गया भगवन् ! समझ गया । कलिंग के पातक से मेरी मुक्ति हो, अब आप वैसा उपाय बताइए । कलिंग-वासियों के दुःख देख मेरा हृदय द्रवित है । कैसे मैं उस पाप का निराकरण कर सकता हूं ?

तिष्य — प्रियदर्शी सम्राट्, उस कुटी में जा । वहां एक तरुण भिक्षु है । वह मथुरा का श्रेष्ठ उपगुप्त है । अपने सद्गुणों से वह अल्पकाल ही में श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न हो गया है । तू उसी के शरणापन्न रह । वही तुझे कल्याण का मार्ग बताएगा । सुमति देगा । उसके वचन का अनुसरण करके तू पृथ्वी पर और स्वर्ग में अक्षय कीर्ति प्राप्त करेगा ।

सम्राट्—जैसी प्रभु की आज्ञा ।

(जाता है ।)

दसवां दृश्य

स्थान—तिष्य का विहार

समय—प्रत्यूष काल

[आचार्य उपगुप्त आसन पर बैठे हैं। सामने सम्राट् बद्धांजलि। प्राची में उषा की सफेदी फैल रही है। शान्त वातावरण है।]

उपगुप्त—राजन, मैं अब कृषक हूँ। मेरे पास श्रद्धा का बीज है। उस पर तपश्चर्या की वृष्टि होती है। प्रज्ञा मेरा हल है। ह्री की हरिस, मन की जोत, और स्मृति के फाल से मैं अपने खेत (जीवन क्षेत्र) जोतता हूँ। सत्य मेरा खुरपा है, उत्साह मेरा बैल है और योगक्षेम मेरा अधिवाहन है। मैं नित्य अपना हल निर्वाण की ओर चलाता हूँ। इस प्रकार अब मैं अमृत की खेती करता हूँ। अमृत की सम्पदा से सम्पन्न होकर अब मैं सब दुःखों से मुक्त आनन्दित हूँ।

पहले मैं श्रेष्ठ था। तब तृष्णा और भोग-लिप्सा के पीछे दौड़ता था। जैसे बन में बन्दर दौड़ता है। यह दुर्जय तृष्णा जिसे जकड़ लेती है, उसके शोक वीरन घास की भांति बढ़ते ही जाते हैं। इस दुर्जय तृष्णा को जो जीत लेता है उसके शोक इस प्रकार भड़ जाते हैं, जिस प्रकार कमल के पत्ते पर से जल-विन्दु। जैसे जड़ न कटने पर भी वृक्ष कटकर भी फिर उग आता है, उसी प्रकार जब तक तृष्णा कटती नहीं, दुःख होता ही रहता है। सो सम्राट्, तू जहां इस तृष्णा-लता को जड़ पकड़ते देखे, उसे वहीं प्रज्ञा की कुल्हाड़ी से काट डाल, और सत्य अहिंसा पर अचल रह।

सम्राट्—सत्य क्या है आचार्य ?

उपगुप्त—जो मन में हो वही वचन में, जो वचन में हो वही कर्म में हो—यही सत्य है। सम्राट्, वैरी जितनी हानि वैरी की करता है, असत्य का अनुगमन करने वाला मन उससे अधिक हानि पहुंचाता है। इससे असत्य का सर्वथा परित्याग करना चाहिए।

सम्राट्—मैंने यह व्रत लिया। मैं कभी हास-उपहास में भी असत्य भाषण नहीं करूंगा। अब आप अहिंसा की व्याख्या कीजिए।

उपगुप्त—जैसा मैं हूँ, वैसे ही वे हैं। और जैसे वे हैं, वैसा ही मैं हूँ। इस भावना को सर्वात्मैक्य कहते हैं। यही समझकर न किसीकी हत्या करे, न हत्या की प्रेरणा करे। अपनी प्राणरक्षा के लिए भी किसीकी हत्या न करे।

सम्राट्—मैंने आज ही से अहिंसा-व्रत लिया।

उपगुप्त—मनुष्य यह विचार करता है कि मुझे जीने की इच्छा है, मरने की नहीं। सुख की इच्छा है, दुःख की नहीं। दूसरों की भी ऐसी ही इच्छाएं हैं। इसलिए स्वयं हिंसा से विरत रहकर दूसरों को भी उससे विरत रखना चाहिए। बैरियों के प्रति वैररहित होकर ही मनुष्य आनन्दित हो सकता है। सम्राट्, तथागत ने कहा है—पहले संसार में तीन रोग थे—हिंसा से बढ़कर वे अट्टानवें हो गए।

सम्राट्—मैं जान गया, हिंसा सब पापों का मूल है।

उपगुप्त—मैत्री भावना सब प्राणियों के प्रति, जैसे माता का स्नेह पुत्र के लिए होता है, वैसी ही रहनी चाहिए। शांत पद के जिज्ञासु को सहनशील, सरलातिसरल, मृदुभाषी, मृदु और निरहंकारी रहना चाहिए। सब प्राणियों के प्रति हमें असंवाद, अवैर और निःस्वार्थ मैत्री की असीम भावना रखनी चाहिए।

सम्राट्—ग्रहण करता हूँ।

उपगुप्त—सम्राट्, तू क्या जूठन से घृणा करता है? दुर्गन्ध से घृणा करता है? मक्खियों से घृणा करता है?

सम्राट्—करता हूँ आचार्य।

उपगुप्त—तो राजन्, लोभ और राग जूठन हैं, द्रोह दुर्गन्ध है, बुरे विचार मक्खियां हैं।

लोभ-तृष्णा जगत का संयोजन है, वितर्क उसकी विचारणा

है। तृष्णानाश से निर्वाण मिलता है। राजन्, यह जगत अविद्या से आच्छन्न है। प्रमाद के कारण वह प्रकाशित नहीं है। वासना उसका अभिलेपन है। इसमें जन्म-मरण महादुःख है। प्रजा से उनका निवारण होता है। हे राजन्, यह मैंने तथागत के धर्म का सार कहा है।

सम्राट्—अभिनन्दित हुआ आचार्य, संपूजित हुआ आचार्य। अब मुझे कलिंग के पाप की मुक्ति का मार्ग मिला, तथापि आप आदेश दें तो ठीक है।

उपगुप्त—सम्राट्, राजधानी लौट जा। कलिंग का राजकुमार बन्दी होकर राजधानी में पहुँच गया है।' उसके साथ सुविचार कर। इसी में सब दोषों का निराकरण हो जाएगा।

सम्राट्—क्या आचार्य कुछ आदेश देंगे ?

उपगुप्त—अभी नहीं, यथा समय।

सम्राट्—तो मैं अभिवादन करता हूँ।

उपगुप्त—कल्याण हो सम्राट्, धर्म में तेरी मति रहे।

ग्यारहवां दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र का राजोद्यान।

समय—सन्ध्या।

[राजोद्यान में टहलते हुए अकेले सम्राट्। गम्भीर मुख-मुद्रा। गहन चिन्तामग्न।]

सम्राट्—(स्वगत) आह, मैंने एक हरे-भरे सम्पन्न सुखी राज्य का अकारण ही विध्वंस कर दिया। कलिंगराज न जाने कहां कैसे मारे

गए । उनके युवराज बन्दी होकर आए हैं । उनका परिवार न जाने किस दुर्दशा में है । अहा, आचार्य उपगुप्त ने मुझे ज्ञान-चक्षु दिया है । अब मैं कैसे इस पातक से उन्मत्त होऊंगा । इस दुष्कर्म का क्या प्रतिशोध किया जाएगा । आचार्य ने कहा था—राजकुमार ही वह मार्ग बताएंगे, परन्तु मैं कैसे उन्हें मुंह दिखाऊंगा । अच्छा, राजकुमार को मैं आप ही आत्म-समर्पण कर दूंगा । जो हो, सो हो । (विचारमग्न टहलता है । कुछ उद्विग्न होकर) अब उनके आने में विलम्ब क्यों हो रहा है ।

[दण्डधर का प्रवेश]

दण्डधर—देवानांप्रिय प्रियदर्शी चक्रवर्ती सम्राट् की जय हो । महानायक कलिंग राजकुमार को लेकर द्वार पर उपस्थित हैं ।

[तीन बार दण्ड का पृथ्वी पर शब्द करता है ।]

सम्राट्—(हर्ष से) उन्हें अभी यहां ले आओ ।

[महानायक के साथ राजकुमारी शैलबाला आती है ।]

महानायक—चक्रवर्ती की जय हो । पृथ्वीनाथ, कलिंग का राजकुमार चक्रवर्ती की सेवा में यहां उपस्थित है (घूमकर) राजकुमार, देवानांप्रिय-प्रियदर्शी चक्रवर्ती को अभिवादन करो ।

कुमार—(हंसकर) धन्यवाद महानायक । अभिवादन के लिए आपकी आज्ञा की आवश्यकता नहीं है । आपके सौजन्य के लिए—जो मार्ग मैं आपने मुझ पर किया—मैं आभारी हूँ । अब चक्रवर्ती के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह मैं स्वयं सोच-समझ लूंगा; आप सम्राट् की आज्ञा लेकर जा सकते हैं ।

महानायक—महाराज.....

कुमार—(आगे बढ़कर मन्द मधुर स्वर से) चक्रवर्ती महानायक को जाने की आज्ञा प्रदान करें तो मैं चक्रवर्ती का अभिवादन करूँ ।

सम्राट्—तुम जा सकते हो महानायक । कुमार को मेरे पास रहने दो । कलिंग-राजकुमार, अभिवादन की आवश्यकता नहीं है । मैंने तुम्हारे

राज्य और परिवार के साथ बड़ा अन्याय और अत्याचार किया है । मैंने तुम्हें इसलिए बुलाया है कि अब मैं तुम्हें बिना विकल्प आत्म-समर्पण कर दूँ ।

कुमार—चक्रवर्ती की जय हो । राजा राजाओं से युद्ध करते हैं । जय-विजय किसी एक पक्ष की होती ही है । परन्तु चक्रवर्ती को विजित शत्रु के बन्दी राजपुत्र के प्रति इतना शिष्टाचार प्रदर्शन करने की आवश्यकता नहीं है ।

सम्राट्—नहीं, राजपुत्र, मैंने अकारण ही उस समृद्ध राज्य को भ्रष्ट किया और अब अकारण ही कुमार तुम्हारे प्रति मेरे हृदय में अपूर्व प्रेम उमड़ रहा है । मैं तुमसे अनुरोध करता हूँ कि मुझे शत्रु न समझो । मेरा हृदय बदल गया है । अब तुम्हारे पूज्य पिता का पता लगाना कठिन है । अब तुम्हीं कलिंग के सिंहासन को प्रतिष्ठित करो । लाओ, अपना हाथ दो प्रिय राजकुमार ।

राजकुमार—चक्रवर्ती को शत्रु-पुत्र का इतना सत्कार करना उचित नहीं है ।

सम्राट्—आह, शत्रुपुत्र नहीं, मित्र, प्रिय बन्धु । प्रिय राजकुमार, तुम्हारे पिता का राज्य तो मैं तुम्हें लौटाता ही हूँ, इसके अतिरिक्त और भी जो मांगो, मैं दूंगा ।

राजकुमार—क्या चक्रवर्ती सचमुच प्रतिज्ञा करते हैं ?

सम्राट्—यह मेरा वचन है राजपुत्र, चक्रवर्ती अशोक का वचन । मांग लो, जो चाहो ।

राजकुमार—सम्राट् मुझे मेरी मांगी वस्तु देंगे ?

सम्राट्—क्यों नहीं प्रियदर्शन, तुम्हारे लिए मेरे पास अदेय कुछ नहीं है । भले ही वह सिंहासन ही क्यों न हो ।

राजकुमार—(हंसकर) केवल सिंहासन ? बस ?

सम्राट्—नहिं-नहिं, प्यारे राजकुमार, ये प्राण भी, यह शरीर भी, तुम्हारा है । आह, तुम्हारी चितवन कितनी प्यारी है । मृदु हास्य

कितना मोहक है । लाभो, अपना हाथ मुझे दो ।

राजकुमार—तो आज से चक्रवर्ती के प्राण और शरीर मेरे हुए ।

सम्राट्—भारत का यह अखण्ड साम्राज्य सिंहासन भी ।

राजकुमार—सम्राट् फिर विचार कर लें । फिर यह तुच्छ हाथ उपस्थित है ।

सम्राट्—ओह, इस महामूल्य हाथ के लिए सिंहासन क्या, प्राण क्या, जीवन क्या ? प्रिय राजकुमार, लाभो अपना हाथ ।

राजकुमार—(लजाता-सा) देवानांप्रिय प्रियदर्शी सम्राट् प्रसन्न हों । यह अकिंचन हाथ सम्राट् की सेवा में उपस्थित है । अब इसकी लाज आपके हाथ है ।

सम्राट्—इसका मूल्य मेरे प्राण, शरीर और सिंहासन से भी अधिक है । आगे बढ़ो और अपना हाथ मुझे दो ।

राजकुमार—यह मेरा हाथ है सम्राट् ।

[इसी समय आचार्य उपगुप्त और कलिंगराज महेन्द्रादित्य आते हैं।]

आचार्य—तनिक ठहरिए चक्रवर्ती ।

सम्राट्—अरे आचार्य हैं । अभिवादन करता हूँ । प्रणिपात करता हूँ ।

आचार्य—कल्याण ! कल्याण !

सम्राट्—आचार्य प्रसन्न हों । यह कलिंग राजकुमार जितेन्द्र यहां उपस्थित हैं । इन्हें मैंने इनके पिता का राज और युद्ध-क्षति दे दी है ।

आचार्य—(हंसकर) केवल राज्य और युद्ध क्षति । बस ।

सम्राट्—नहिं-नहिं, आचार्य । अपना सिंहासन, प्राण और शरीर भी ।

आचार्य—(हंसकर) चक्रवर्ती ने बड़ी ही बुद्धिमत्ता से अपना प्राण और शरीर सुपात्र को दिया है । हां, अब आप उस पवित्र हाथ को ग्रहण कीजिए । लाभो कलिंग राजकुमारी, आगे बढ़ो ।

सम्राट्—क्या कहा, कलिंग-राजकुमारी ?

आचार्य—हां, सम्राट्, यह कलिंग-राजनन्दिनी शैलबाला है। राजकुमारी, तुमने तो स्वयं ही चक्रवर्ती से सौदा तय कर लिया है। अब संकोच क्यों ?

सम्राट्—यह आप क्या कह रहे हैं आचार्यपाद ?

आचार्य—राजकुमारी, अब तुम यह पुरुष का छद्म वेश त्याग दो, जिससे सम्राट् का भ्रम दूर हो जाए।

सम्राट्—ये कलिंग-राजनन्दिनी शैलबाला हैं, तब कलिंग महाराजकुमार कहाँ है ?

आचार्य—कलिंग-महाराज महेन्द्रादित्य और महाराज कुमार जितेन्द्रादित्य भी सम्राट् की सेवा में उपस्थित हैं। (पुकारकर) निकट आइए कलिंगपति, निकट आइए कलिंग युवराज जितेन्द्र।

[दोनों आगे बढ़कर सम्राट् को अभिवादन करते हैं।]

सम्राट्—स्वागत, कलिंग-महाराज, आइए मुझ अपराधी को आर्लिगन देकर कृतार्थ कीजिए।

कलिंग-महाराज—चक्रवर्ती प्रसन्न हों। चक्रवर्ती यद्यपि मेरे राज्य की भांति मेरी पुत्री को भी मेरे देने से पूर्व ही ले चुके हैं, फिर भी मेरे हाथ से इसे एक बार ग्रहण कीजिए। लीजिए।

सम्राट्—(आश्चर्य से अभिभूत होकर) आचार्य, कुकर्म का यह सुफल क्यों ?

आचार्य—सम्राट्, यह सुकर्म का फल है कि दोनों महानृपति तन-मन से एक हो गए। आइए, महाराज कलिंगपति के हाथ से कलिंग-राजनन्दिनी का पाणिग्रहण कीजिए।

सम्राट्—जैसी आचार्य की आज्ञा।

[सम्राट् आगे बढ़ते । कलिंगपति राजकुमारी का हाथ उनके हाथ में बेते हैं। शंख बजते हैं। दूर बहुत से बाजे बज उठते हैं। साथ ही स्त्रियों का एक सम्मिलित मंगल गान होता है।]

आज चाँदनी रात में,
 घूम रहा निर्बन्ध पवन,
 सुरभि अङ्क में भरे,
 आज उषा ने बखेरा,
 पराग, अङ्ग राग अति ।
 आज चाँदनी रात में,
 आई चुपचाप,
 रजनी गंधा गंध,
 दे गई संदेश कुछ,
 नयन में वह छा गया ।
 आज चाँदनी रात में,
 लताएं झुक झूमकर,
 कुन्द कलियां चूमकर,
 अब प्रवाहित कर रहीं,
 कुछ सुखद संकेत-सा ।
 आज चाँदनी रात में,
 चांदी सोना या चन्दन,
 औशुन शुन निर्गुन,
 मुखरित तन, मौनी मन,
 धूप छांह चाँदनी—
 आज चाँदनी रात में ।

दूसरा अङ्क

पहला दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र राजमहालय का अंतरंग राजोद्यान

समय—रात्रि

[ग्रीष्मकालीन उज्ज्वल शुक्लपक्ष की एकादशी की रात्रि का प्रथम प्रहर । राजोद्यान में सम्राट् अशोक और राज-महिषी असन्धिमित्रा एक स्फटिक शिला पर बैठे हैं ।]

राजमहिषी—आर्यपुत्र, स्निग्ध चाँदनी है । शीतल-मन्द-सुगन्ध समीर बह रहा है । एकादशी का अपूर्ण उज्ज्वल विम्ब रुपहली अभ्रों में क्रीड़ा कर रहा है । चम्पा की मादक गन्ध उन्मादक संदेश-सा दे रही है । कोई पक्षी बीच-बीच में बोल उठता है, तो एक अपूर्ण-सा संगीत प्रतीत होता है । मालती फूलों से लदी हुई कैसी मनोरम लग रही है ! आप अब भी गम्भीर हैं ।

सम्राट्—हां प्रिये !

रा० म०—आम बौर रहे हैं, उनकी भीनी सुगन्ध वातावरण में भरी है, कितनी मादक है वह । कोकिल रह-रहकर कूक उठती है, जिससे हृदय आन्दोलित हो उठता है । आन्तरिक आनन्द की एक लहर हृदय को भकभोर डालती है । आप अब भी गम्भीर हैं ?

सम्राट्—हां प्रिये ।

रा० म०—तो क्या मैं समझूं कि आर्यपुत्र इस धवल ज्योत्स्ना को नहीं देख रहे, शुभ अश्रों में आंख-मिचौनी करते चन्द्रबिम्ब को नहीं देख रहे । बिश्व में फैले इस शान्त उज्ज्वल श्याम नैशालोक को नहीं देख रहे । मालती, चम्पा, मौलसिरी, रजनीगन्धा और आम्र-मंजरियों के सौरभ की कुछ भी अनुभूति नहीं ले रहे ।

सम्राट्—हां प्रिये !

रा० म०—(हंसकर) और मैं, आपकी चिरकिकिरी, जो यहां उपस्थित हूं, इसे भी आर्यपुत्र नहीं देख रहे । मेरा नाम था शैलबाला, जब मैं कलिंग की राजपुत्री थी, और अब आपने मेरा नाम रखा—असन्धिमित्रा, राजमहिषी पद देकर । अब मैं भी आर्यपुत्र को—नहीं-नहीं—सम्राट् को असन्धिमित्र कहकर पुकारूं ?

सम्राट्—सम्राट् क्यों ?

रा० म०—(मृदु व्यंग्य से) सम्राट् ही तो । आर्यपुत्र आप कहाँ हैं ? इस स्निग्ध चांदनी में, इस उज्ज्वल नैशालोक में, इस सौरभ से परिपूर्ण वातावरण में आप न क्रीडारत चन्द्र बिम्ब को देखते हैं, न आम्र-मंजरी की मादकता ग्रहण करते हैं, न मुक्त नगण्या के सान्निध्य को देखते हैं, केवल साम्राज्य ही के चिन्तन में मग्न हैं । तब आप आर्यपुत्र कहाँ हैं—सम्राट् ही तो हैं ।

सम्राट्—नहीं प्रिये, साम्राज्य-चिन्तन नहीं ।

रा० म०—तब और क्या ?

सम्राट्—मैं सोच रहा हूँ, अपने पूर्व जीवन की बात । कलिंग के पातक

की बात, तुम्हीं ने तो कहा था कि तुम्हारे पिता—कलिग के अधिपति के शरीर-रक्षकों में साठ हजार पैदल, दस हजार अस्वारोही, और सात सौ हाथी थे ।

रा० म०—कहा था आर्यपुत्र ।

सम्राट्—कहां है, आज वह महामहिम नरपति, नरसिंह ! कहां है उसकी विशाल वीरवाहिनी, कहां है उद्ग्रीव कलिग राष्ट्र ? आज वह सब धूलि-धूसरित हो गया । सबल के अनुचित आक्रमण के विरुद्ध धर्मयुद्ध में एक लाख मनुष्यों ने प्राणों की आहुति दी । डेढ़ लाख नर-नारी मनुष्य के नैसर्गिक स्वतन्त्रता के अधिकारों से बलात् वंचित करके बन्दी किए गए ।

रा० म०—किन्तु आर्यपुत्र, अब इन बीती बातों से क्या ?

सम्राट्—कलिग-राज्य अशोक के साम्राज्य की अन्तर-राजनीति में कंटक रूप था । आन्ध्र और परिन्दा के प्रान्त साम्राज्य के अन्तर्भूत थे । परिन्दा साम्राज्य के पूर्वी छोर पर था, इसी से कलिग अन्तर-राजनीति में एक शूल था, वह कभी भी चोड़-राज्य से मैत्री कर सकता था । इसलिए साम्राज्य की अखण्ड सत्ता अक्षुण्ण रखने को कलिग-विजय करना आवश्यक था, वही मैंने किया ।

रा० म०—सम्राट् ने साम्राज्य के लिए जो ठीक था, वही किया ।

सम्राट्—साम्राज्य के लिए ? ठीक है । साम्राज्य के लाभ के लिए, मनुष्यों के लाभ के लिए नहीं । साम्राज्य मनुष्य से बड़ा है । उसके हित के लिए केवल एक लाख निरीह प्राणियों के वध का क्या मूल्य (घृणा से हंसकर) और एक लाख ही क्यों ? साम्राज्य की सेना के भी तो इतने ही प्राणी हत हुए । फिर जो लोग बन्दी बनाए गए, उनका क्या लेखा-जोखा है ?

रा० म०—आर्यपुत्र, मैंने सुना था कि पूर्वकाल में कभी कलिग नन्दों के मगध साम्राज्य का अंग था । वह आर्य चन्द्रगुप्त के राज्यकाल

में पृथक् राष्ट्र बना । सो आपका यह अभियान कुछ ऐसा अन्याय-पूर्ण भी न था ।

सम्राट्—खूब कहा सम्राज्ञी । सम्राज्ञी होकर अब तुम भी इसी स्वर में बोलोगी । साम्राज्य के स्वर में । परन्तु क्यों साम्राज्य के लिए नरवध हो ?

रा० म०—बड़े हित के लिए छोटे हितों का बलिदान करना पड़ता है आर्यपुत्र !

सम्राट्—तो साम्राज्य बड़ा हित है ? किसने तुमसे कहा प्रिये ? साम्राज्य का यह लाभ उच्चवर्गीय जनों को होता है । और उनके पोषण का भार पिछड़ी जाति के लोगों पर पड़ता है । पर सदैव यही होता है कि पिछड़ी हुई जाति के लोग जब संगठित हो जाते हैं तब साम्राज्य पर दूट पड़ते हैं और भीषण युद्धों के पुरोहित बनकर साम्राज्य के स्वामियों को भीषण युद्ध के मुंह में धकेल देते हैं । मैं देख रहा हूँ कि यहां सम्पत्ति एकत्र हो रही है पर मनुष्य का ह्रास हो रहा है । सारा साम्राज्य झूठी सजधज से सजा है, पर आन्तरिक दुर्बलता से पतनोन्मुख है ।

रा० म०—ओह, बड़ी भयानक बात है !

सम्राट्—(गहरी सांस लेकर) साम्राज्य में केवल थोड़े-से ही लोग सुख-साधनों से सम्पन्न होते जाते हैं । पर ज्यों-ज्यों उन्हें सुख-साधन मिलते जाते हैं, उनकी भोग-वृष्णा बढ़ती जाती है । पर शीघ्र ही उनके आर्थिक स्वार्थ परस्पर टकराने लगते हैं और वे नित नए संघर्ष का रूप पाते जाते हैं । इसीसे साम्राज्य निरन्तर युद्धों पर ही पनपता है प्रिये ! नर-रक्त के अतिरिक्त उसे और कुछ न चाहिए ।

रा० म०—परन्तु इसका निराकरण कैसे होगा ?

सम्राट्—तथागत ने कहा है—सबके हित के लिए, सबके सुख के लिए । परन्तु यह सुकर नहीं है ।

रा० म०—सुकर क्यों नहीं है आर्यपुत्र ?

सम्राट्—भोग-तृष्णा ही इसकी सबसे बड़ी बाधा है । भोग-तृष्णा ही सब दुःखों की जड़ है ।

रा० म०—आर्यपुत्र, क्या शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति को भोग-तृष्णा कहा जाएगा ?

सम्राट्—नहीं प्रिये, मनुष्य के मन में भोग-वस्तुओं की जो बेहद लालसा बढ़ती है, उसे ही भोगतृष्णा कहते हैं ।

रा० म०—तो भोगवस्तु की लालसा तो संसार के सभी प्राणियों में है ।

सम्राट्—मनुष्य में सबसे अधिक । इसीसे वह संसार के सब प्राणियों से अधिक दुःखी है ।

रा० म०—यह क्यों ?

सम्राट्—स्वाभाविक है । भोगवस्तु की इच्छा करने वाले की यदि इच्छा-पूर्ति हो जाती है, तो उसके उपभोग का वह आनन्दलाभ कर लेता है । पर यदि उपभोग-वस्तु सुलभ न हो—उपलब्ध न हो—तो उसे बेहद दुःख होता है । इसके लिए वह परिश्रम करता है, संघर्ष करता है, यदि उसे असफलता मिलती है तो वह दुःख और निराशा से पागल होकर न करने के सब दुःसाहस करता है ।

रा० म०—और यदि सफल हुआ ?

सम्राट्—तो उसकी रक्षा में व्याकुल रहता है । इन्हीं भोग-वस्तुओं के लिए मित्र मित्र से, भाई भाई से, पति पत्नी से, राजा राजाओं से, वैर रखते हैं । शस्त्रों से एक दूसरे पर घातक प्रहार करते हैं, भयानक युद्ध करते हैं, जहां असंख्य निर्दोष प्राणियों का व्यर्थ ही वध होता है । अंत में शक्ति भंग होती है । इसीसे साम्राज्य टूटते रहते हैं, और वह सब रक्तपात व्यर्थ जाता है ।

रा० म०—ओह !

सम्राट्—इसीसे तथागत ने कहा—हे आनन्द, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से पर्येषणा, पर्येषणा से लाभ, लाभ से निश्चय, निश्चय से आसक्ति,

आसक्ति से अध्यवसाय, अध्यवसाय से परिग्रह, परिग्रह से मात्सर्य, मात्सर्य से आरक्षा और आरक्षा से दण्डादान, शस्त्रदान-कलह-निग्रह-विवाद-पैशुन्य-असत्य आदि पाप कर्मों का उदय होता है।

रा० म०—समझ गई आर्यपुत्र, यह भोगतृष्णा मनुष्य में उत्पन्न होकर मनुष्य को ही नष्ट कर देती है।

सम्राट्—और इसका समष्टि रूप साम्राज्य है, इसीसे साम्राज्य चाहे भी जितना उन्नत हो, वह विनाश के किनारे पर ही खड़ा रहता है।

रा० म०—और यदि साम्राज्य की जय हो ?

सम्राट्—प्रिये, व्यापक संहार का भार दोनों ही पक्षों पर समान पड़ता है। युद्ध ही साम्राज्य को बनाते हैं और युद्ध ही उसकी रीढ़ की हड्डी तोड़ डालते हैं। परिणाम यह होता है कि साम्राज्य ध्वस्त हो जाते हैं, और उनके कर्णधार भूखे-नंगे, रोगी और अपंग-असहाय भयभीत मनुष्यों को भावी युद्ध के लिए उकसाने लगते हैं। लोग मृत्यु नहीं चाहते, युद्ध नहीं चाहते, पर साम्राज्य के कर्णधार उन्हें आराम से नहीं बैठने देते। युद्ध के लिए उकसाते ही रहते हैं।

रा० म०—इसीसे मनुष्य जीवन की अपेक्षा मृत्यु की ओर अग्रसर होता है।

सम्राट्—इसीसे प्रिये, इसीसे।

[गहन चिन्ता में व्यग्र हो उठकर टहलने लगता है।]

रा० म०—अब आर्यपुत्र क्या सोचते हैं ?

सम्राट्—आचार्य उपगुप्त ने मुझे दिव्य ज्ञान दिया है। जितने दिव्य और मानुष-बन्धन हैं, मैं उन सबसे मुक्त हूँ। बहुत जनों के हित के लिए, बहुत जनों के सुख के लिए, लोक पर दया के लिए, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिए, हित के लिए, सुख के लिए, मैं अग्रसर हूँ। आदि में कल्याणकारक, मध्य में कल्याणकारक, और अन्त में कल्याणकारक, धर्म का अर्थ सहित, व्यंजन सहित, मैं लोक में प्रचार करूँगा।

रा० म०—आर्यपुत्र की जय हो, अभिनन्दन करती हूँ ।

सम्राट्—अब मेरा साम्राज्य धर्म-साम्राज्य होगा, मेरे साम्राज्य की विजय शस्त्र से नहीं, धर्म से होगी, मेरी-घोष अब धर्मघोष में परिवर्तित होगा, अब प्रतापी मौयों का यह सम्राट् धर्मपराक्रम, धर्मविजय, और धर्म-प्रसार में जीवन लगाएगा ।

तृष्णा क्षय से मुक्त, शुद्ध-सम्मोह-रहित चित्त ।

द्रोह मुक्त, अद्रोह मुक्त प्रज्ञा-युत हित चित्त ।

उपादान-क्षय मुक्त, मुक्त आयतन मूल चित्त ।

अकरणीय निष्पन्न, न कुछ करणीय शेष चित्त ।

जैसे भूधर अचल चल, पवन प्रकंपित होत नहि ।

उसी भांति निश्चल अलिप्त, शुद्ध मुक्त स्थिर चित्त वहि ।

[सम्राट् एकाएक ध्यानमग्न, शून्य, गगन को निहारते हैं ।

सम्राज्ञी श्रद्धा से उनके चरणों में झुक जाती है ।]

दूसरा दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र के अन्तरायण का हाट चतुष्पथ

समय—प्रातःकाल

[हाट में नागरिक जनों की भीड़-भाड़ । भिन्न-भिन्न वेश-धारी पुरुषों और वाहनों का आवागमन । राजघोषक और धर्म-महामात्र आते हैं ।]

राजघोषक—(कुन्बुभि पर डंका मारकर) सुनो, सुनो । राजाज्ञा ध्यान से सुनो । देवानांप्रिय-प्रियदरसी राजा बोला—

धर्म महामात्र—देवानांप्रिय-प्रियदरसी राजा धर्माशोक सर्व प्राणियों के

हेतु परित्राण, इन्द्रिय-विजय, मनःशान्ति एवं सुख के अभिलाषी है ।

राजघोषक—(उंका मारकर) सुनो-सुनो । देवानांपिय-पियदरसी राजा बोला—

धर्म महामात्र—सर्वलोक कल्याण से बढ़कर कोई और कार्य नहीं है । इसीसे हिंसक शस्त्रों के स्थान पर अब प्रियदरसी राजा ने स्नेह और कल्याण का अमृत पूरित रजत पात्र हाथों में धारण किया है । उनकी निजी आकांक्षाएं, और राजकीय कामनाएं; विश्व-कल्याण और जीव-मंगल की अभिलाषाओं में परिवर्तित हो गई हैं । सैनिक 'वीरघोष' अब मंगलकारी धर्मघोष बन गया है । और शस्त्रों की विजय अब धर्मविजय बन गई है । अब देवताओं के प्रिय सब विजयों में धर्मविजय को मुख्य मानते हैं ।

राजघोषक—(उंका मारकर) सुनो, सुनो । देवानांपिय-पियदरसी राजा बोला—

धर्म महामात्र—देवताओं का प्रिय-प्रियदर्शी राजा सब धर्मों की पूजा और आदर करता है । देवताओं का प्रिय दान और पूजा की अपेक्षा सब धर्मों की सार वृद्धि को महत्त्व देता है; जिसका मूल वाक्-संयम है ।

राजघोषक—(उंका मारकर) सुनो, सुनो । देवानांपिय-पियदरसी राजा बोला—

धर्म महामात्र—विगत काल में राजागण विहार-यात्रा के लिए निकलते थे; विहार यात्रा में आखेट करते और अनेक मनोविलास करते थे, अब देवताओं के प्रिय-प्रियदर्शी राजा ने धर्मयात्रा प्रचलित की है; जिससे धर्मविस्तार, धर्मस्नेह, और धर्मकामना की वृद्धि हो । धर्म मंगल का श्रेय प्राप्त हो । सर्वमंगल धर्म उपलब्ध हो ।

राजघोषक—(उंका मारकर) सुनो, सुनो । पियदरसी राजा बोला—

धर्म महामात्र—देवताओं का प्रिय-प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है

कि धर्मदान, धर्म-सम्बन्ध, और धर्मवितरण, से बढ़कर और कोई दान नहीं है। इसी प्रयोजन के धर्म-स्तम्भ प्रजा के हेतु ऐसे स्थानों पर मैंने स्थापित कराए हैं, जहां उपासकगण प्रत्येक उपवास के दिन पहुँचकर पढ़ सकें। तथा धर्म के आचरण को जानें। उन्हीं पर आचरण करें, ये प्रजा अनुवर्ततु।

राजघोषक—(डंका मारकर) सुनो, सुनो, प्रियदरसी राजा बोला—

धर्म महामात्र—देवताओं का प्रिय इस प्रकार कहता है कि माता-पिता की सेवा, और सर्वप्राणियों के प्रति आदर भाव, तथा सत्यवचन गुरुतर धर्म है। इन धर्म गुणों की वृद्धि होनी चाहिए। सब भूतानां अच्छुतिच, सयंच, समचेरांच, मादवंच, गुरुयतो देवानां।

राजघोषक (डंका मारकर) सुनो, सुनो। प्रियदरसी राजा बोला—

धर्म महामात्र—देवताओं के प्रिय-प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहते हैं कि पुत्रजन्म, विवाह, विदेशगमन, के अवसरों पर लोग बहुत-से मंगल करते रहते हैं। माताएं और पत्नियां, विविध छोटे और सारहीन मंगल-कार्य किया करती हैं। मंगल-कार्य अवश्य करने चाहिए, पर ये मंगल बहुत कम फलदायक हैं। धर्ममंगल निश्चय अति फलदायक है। इस धर्ममंगल में सुश्रूषा, सद्व्यवहार, संयम, और दान ही मुख्य हैं। यह धर्म-मंगल स्तुत्य है, जब तक अर्थ-पूर्ति नहीं, धर्ममंगल करना स्तुत्य है। परन्तु च अनन्तं पुणं प्रसवति, तेन धर्म मंगलेन स्वगत आलकि।

राजघोषक—(डंका पीटकर) सुनो, सुनो। प्रियदरसी राजा बोला—

धर्म महामात्र—देवताओं का प्रिय-प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है कि मनुष्य अपने सुकृत देखता है, पर अपने आसीनव पर विचार नहीं करता, उग्रता, क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या ये सब आसीनव गामिनी हैं, इनके द्वारा मनुष्य को अपनी अपकृति न करनी चाहिए।

राजघोषक—(डंका पीटकर) सुनो, सुनो। प्रियदरसी राजा बोला—

धर्म महामात्र—देवताओं का प्रिय-प्रियदर्शी राजा कहता है—कोई जन-

पद ऐसा नहीं, जहां किसी न किसी धर्म के लोग न रहते हों, इस-
लिए देवताओं का प्रिय राजा चाहता है कि सर्वत्र ही सर्वधर्म वाले
बसों। क्योंकि 'सब्रहिते सयम भाव शुद्धि च इच्छन्ति'।

राजघोषक—(डंका पीटकर) सुनो, सुनो। देवानांपिय-पियदर्शी राजा
बोला—

धर्म महामात्र—देवताओं का प्रिय-प्रियदर्शी राजा कहता है—संयम-
सहिष्णुता, बहुश्रुतत्व, सार, धर्ममंगल, धर्मदान और पराक्रम धर्म-
विजय-धर्मघोष-धर्मकामना और धर्मयश मनुष्य-जीवन का चिर-
घोष है। तथा मैं जो पराक्रम करता हूँ, सब परलोक के लिए,
तथा सर्वहित के लिए।

राजघोषक—(डंका पीटकर) सुनो, सुनो। देवानांपिय-पियदर्शी राजा
बोला—

धर्म महामात्र—देवताओं का प्रिय-प्रियदर्शी राजा कहता है—किसी की
निन्दा मत करो, सब की सार वृद्धि हो, ऐसा उपक्रम करो :—

[राजघोषक बारम्बार डंका पीटता है और उपस्थित भीड़
प्रियदर्शी राजा का जय-जयकार करती है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र का राज-प्रासाद

समय—सन्ध्या काल

[महामात्य राधागुप्त और सन्नाट]

राधागुप्त—देवताओं के प्रिय के धर्म का सर्वत्र अनुसरण हो रहा है।

उन राज्यों अथवा देशों के लोग भी, जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत

नहीं जा सकते, देवताओं के प्रिय का धर्माचरण सुनकर, धर्म पर आचरण करते हैं और करेंगे।

सम्राट्—राधागुप्त, यह धर्मविजय सर्वत्र प्रेम को देने वाली है। धर्म विजय ही से स्नेह प्राप्त होता है।

राधागुप्त—अविजित सीमान्त प्रदेश यदि यह पूछें कि सम्राट् की हमारे प्रति क्या इच्छा है ?

सम्राट्—वे समझें, कि वे देवताओं के प्रिय के कोप से स्वतन्त्र रहें। देवताओं के प्रिय का विश्वास करें, वे समझ लें कि जो क्षमा के योग्य है, उसे देवताओं का प्रिय क्षमा करेगा। उसकी अभिलाषा उन्हें धर्माचरण पर लाने की है। जिससे वे इस लोक और परलोक में सुख को प्राप्त हों।

राधागुप्त—तो प्रियदर्शी महाराज जानें कि इन सीमान्त राज्यों में पशुओं और मनुष्यों के लिए चिकित्सालय स्थापित हो गए हैं, और अन्य धर्म-हित और धर्म से आनन्द लेने वाले उपकरणों का नियमन करवाया गया है।

सम्राट्—साधु, राधागुप्त साधु।

राधागुप्त—‘अपरत्रा’ वालों ने सम्राट् की सुनीति और बल से प्रभावित होकर धर्माचरण किया है, और प्रियदर्शी की विश्व-मैत्री एवं तादात्म्यता से प्रभावित होकर सद्धर्म ग्रहण किया है।

सम्राट्—राधागुप्त, उन्हें बारम्बार कहो कि देवताओं का प्रिय सीमान्त के वैदेशिक राज्यों की कल्याण-कामना के अभिलाषी है। अनारंभो प्राणानां और अहिंसा-सर्वभूतानां।

राधागुप्त—देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी महाराज की आज्ञा से धर्म महामात्र और अन्य प्रमुख कर्मचारी राजधानी और बाह्य नगरों में धर्म-कार्य के लिए नियुक्त अपना कार्य कर रहे हैं।

राजा—जिस प्रकार मैं अपने बच्चों के लिए सुख का अभिलाषी हूँ, उसी प्रकार अपनी प्रजा का हित और सुख इहलोक और परलोक में

चाहता हूँ । सब मुनिसाभि पजा ।

राधागुप्त—धर्म महामात्र अवरोधों में, राजनगरी में, राजपरिवार में, सर्वत्र नियुक्त हैं ।

राजा—तो उन्हें मेरा अनुशासन कहो कि रानियों ने—राजवर्गी स्त्रियों ने जो कुछ भी दान किया हो, चाहे आम्र-कुंज, चाहे धर्म-शाला, चाहे और कुछ, उन सबकी गणना उन्हीं के नाम में की जाए ।

राधागुप्त—जैसी आज्ञा ।

राजा—राधागुप्त, त्याग ही जीवन का शृंगार है, पवित्र जीवन ही सुखों का सार है । कामना का त्याग ही पवित्र जीवन है ।

संतप्त है संसार ।

किन्तु मैंने यत्न से जाना सुखों का सार ।

कामना के त्याग से ही मुक्त होता भार ।

पाप-मल-अभिमान आस्रव अशुचि मानस रोग ।

मुक्त मन ही भोगता निर्द्वन्द्व सुख का भोग ।

सूर्य है संतप्त नभ में किन्तु जीवन धार ।

मनुज संतापित स्वयं में आप अपना भार ।

संतप्त है संसार ।

चौथा दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र का राजपथ

समय—अपराह्न

[एक ओर से श्रोत्रिय सोमलायन आते हैं । काला, कृशकाय गलितदन्त-पलितकेश, मूर्द्धा पर सफेद चोटी । दाढ़ी-मूँछ साफ, कण्ठ में जनेऊ, कमर में पीताम्बर । आयु ६० साल ।]

श्रोत्रिय—सूर्य अपराह्न को गया, परन्तु घाम अभी वैसी ही असह्य है । कैसा कठिन काल उपस्थित है । श्रोत्रिय वेदपाठी ब्राह्मण को नगर-हाट में कोई प्रणाम तक नहीं करता ।

[श्रावक धनदास आता है । मोटा ठिगना आदमी, प्रसन्न वदन, कौशेय से शरीर ढाँके । स्वर्ण के आभूषण और मूल्यवान् उष्णीष पहने ।]

श्रावक—अहा, श्रोत्रिय सोमलायन हैं । प्रणाम करता हूँ ।

श्रोत्रिय—स्वस्ति, स्वस्ति गृहपति । परन्तु आज मैं बहुत व्यस्त हूँ ।

श्रावक—(हँसकर) अच्छा, कहीं भोजन का निमन्त्रण है क्या ?

यागयज्ञ तो अब कहीं होते नहीं । पर दक्षिणा तो मिलती है ।

श्रोत्रिय—कहाँ ? देवों का प्रिय दान और पूजा को इतना महत्व नहीं देता । वह तो पाखण्डियों की सारवृद्धि चाहता है ।

श्रावक—सारवृद्धि के भी तो अनेक प्रकार हैं ।

श्रोत्रिय—परन्तु भाई, वैदिक संस्कृति का तो आधार यज्ञ-याग है ।

देवताओं के प्रिय ने उसका तो प्रथम ही निषेध कर दिया है । यज्ञ-यागों के प्रति लोगों का अनादर बढ़ता जा रहा है । इससे उनकी प्रवृत्ति विहार और स्तूप बनाने में हो गई है ।

श्रावक—(हँसकर) इससे क्या ? श्रोत्रिय ब्राह्मण भी तो उनमें आ गए ।

श्रोत्रिय—(क्रोध से) क्या ब्राह्मण शूद्र के साथ स्वर्गवास करेगा ।

श्रावक—(हँसते हुए) विना यजमान के अकेला ब्राह्मण स्वर्ग जाएगा तो दक्षिणा कहां से पाएगा । फिर स्वर्गवास तो मरने पर होगा । ब्राह्मण यदि सिर मुड़ाकर काषाय धारण करे तो विहार में आनन्द करे । सच जानो मित्र, यह सदेह स्वर्ग में पहुँचना है ।

श्रोत्रिय—ब्राह्मण पाखंडियों के साथ कैसे रहेगा भाई ।

श्रावक—भूखों मरने से यही उत्तम है मित्र ।

श्रोत्रिय—खाक उत्तम है । अरे, यह तो बुद्धानुशासन भी नहीं है ।

श्रावक—यह कैसे ?

श्रोत्रिय—अरे, देवताओं के प्रिय राजा के इस कार्य से बौद्धसंघ परिग्रह वान् बन गया है । पहले भिक्षु की निजी सम्पत्ति केवल तीन चीवर और एक भिक्षा-पात्र था । भिक्षुसंघ केवल चातुर्मास भर एक स्थान पर रहता था । पर अब तो बड़े-बड़े विहार बन गए और उनमें सब आलसी, कामचोर, लुच्चे, सिर मुड़ा, चीवर पहनकर सूत्र घोखते और माल-मलीदे उड़ाते हैं ।

श्रावक—तो इससे क्या ?

श्रोत्रिय—(क्रोध से) गृहपति, तू इतना भी नहीं जानता । इससे इच्छा और अभिमान बढ़ते हैं । तथागत ने तो कहा था कि भिक्षु को सत्कार का अभिनन्दन नहीं करना चाहिए ।

[सामने से एक दिगम्बर और एक भिक्षु झगड़ा करते आते हैं ।]

दिगम्बर—ओं गामो अलिहंताणं । अरे सुन, इस मलमय पुद्गल शरीर की जलों से शुद्धि नहीं हो सकती । आत्मा विमल-स्वभाव है ।

भिक्षु—अरे मूर्ख, सब पदार्थ क्षण-स्थायी और अनात्मक हैं । वे बाह्य से जान पड़ते हैं । पर जब चित्त-संतति में से सब वासनाएं निकल जाती हैं, तब वह विषयों से विरक्त हो जाता है ।

दिगम्बर—तू पाखण्डी है । (धीरे से)

भिक्षु—(हँसकर) तू मूर्ख है । अरे, यह सौगत धर्म अच्छा है । सोने

को उत्तम आवास, नियमित समय पर मिष्टान्न भोजन, उत्तम बिछौने । कह क्या कहता है । (श्रावक और श्रोत्रिय को देखकर) सब संस्कार क्षणिक है । आत्मा स्थायी नहीं ।

[कापालिक आता है । भस्म अंग में लपेटे, बाघाम्बर कमर में बांधे । नर-कपाल हाथ में लिए । लम्बतडंग ।]

कापालिक—(हाथ ऊंचा करके) डिमडिम डमरू बजाकर और भूत गणों को एकत्र कर जो भगवान् भूतनाथ प्रलय का तांडव नृत्य करते हैं, मैं उन्हीं की उपासना कर मनुष्य की खोपड़ी में सुरापान करता हूँ । नरमांस चिताग्नि पर सेक कर खाता हूँ । मैं सिद्ध हूँ—कौन क्या लेगा, मांग ले । मैं सब ऋद्धि-सिद्धि का ज्ञाता त्रिकालदर्शी पुरुष हूँ ।

श्रावक—(डरकर) हे त्रिकालज्ञ, तुम्हें प्रणाम है ।

भिक्षु—किन्तु तथागत का उपदेश है—अहिंसा परमो धर्मः ।

कापालिक—अरे पाखण्डी, विषयों ही में सुख है ।

दिगम्बर—अरे कापालिक, सरागी मुक्ति संभव नहीं ।

कापालिक—(नर-कपाल में मधु भरकर) देख रे महान्ध, यह पाश के उच्छेद की अमृत औषधि है । इसे पानकर फिर मुक्ति का चिन्तन कर ।

श्रावक—अरे रे रे, सुरापान । महाघातक (जाता है ।)

श्रोत्रिय—सौत्रामण्यां सुरां पिवेत् (जाता है ।)

दिगम्बर और भिक्षु—हम भी चलें, इस मूर्ख ने देवताओं के प्रिय का अनुशासन नहीं सुना है । (जाते हैं)

[कापालिक बैठकर नर-कपाल में भरकर मदिरा पीता है ।]

पांचवां दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र, राजप्रासाद का सभाभवन

समय—प्रातःकाल

[सम्राट् अशोक स्वर्णपीठ पर बैठे हैं। सम्मुख व्यालासन पर मोगलि पुत्र तिष्य और आचार्य उपगुप्त आसीन हैं। मोगलिपुत्र तिष्य चौरासी वर्ष के वृद्ध हैं। उनकी मुखमुद्रा शान्त है। तपःपूत कृशकाय निश्चल स्थिर हैं। उपगुप्त गम्भीर मुद्रा में। दोनों आचार्य काषायधारी हैं, पार्श्व में धर्मासन पर महामात्य राधागुप्त बैठे हैं। दण्डधर कंचुकी, चमर-वाहिनी, द्वारपाल अपने-अपने स्थान पर हैं।]

सम्राट्—(वद्धांजलि) भन्ते भगवन्, अब तो मेरा घोष सम्यक् रूपेण धर्मघोष में परिणत हो चुका। कहो राधागुप्त, तथागत की धर्माज्ञाओं की कैसी स्थापना हुई है ?

राधागुप्त—देवानां-प्रिय-प्रियदर्शी के विशाल साम्राज्य के शासन-सूर्य की प्रखर स्पर्शम किरणों हिमालय के श्वेत मस्तक का आलिङ्गन करती हुईं समुद्र के अधरों का चुम्बन करती हैं। अब पृथ्वी प्रियदर्शी के अधीन है। और देवानांप्रिय प्रियदर्शी महाराज धर्माधीन हैं। इसी से प्रियदर्शी महाराज की धर्माज्ञाएं, मैंने शिलाभिलेखों और स्तूपों और धर्मस्तूपों पर अंकित कर दी हैं, जिससे सब कोई उन्हें पढ़ें और धर्माचरण करें।

तिष्य—साधु, सम्राट् साधु। क्या ये धर्माज्ञाएं साम्राज्य भर में अंकित हैं।

सम्राट्—भन्ते भगवन्, जहां-जहां जनपद हैं, वहां-वहां तथागत के शासन-चक्र चल रहा है। कलिंग में जितने लोग आहत हुए, निधन किए गए, और बन्दी बनाए गए, यदि उसका शतांश-सहस्रांश भी अब आहत किया जाए या बन्दी बनाया जाए तो यह मेरे लिए असीम दुःखदायक है।

राधागुप्त—इसी से भन्ते भगवन्, देवताओं के प्रिय का यह मत, कि जो बुराई करे उसे भी क्षमा किया जाए, जो अर्धसम्य बनवासी जन देवताओं के प्रिय के विजित राज्य में हैं, उनको भी धर्म-मार्ग पर लाने के लिए, धर्मघोष प्रसारित किया गया है कि देवताओं का प्रिय सब जीवों की अक्षति, संयम, समता, और आनन्द का अभिलाषी है। धर्म-विजय ही को देवताओं का प्रिय अच्छा समझता है। यह धर्म में विजय देवताओं के प्रिय की यहां अपने विजित राज्य में, तथा सब सीमान्त प्रदेशों में छः सौ योजन तक जहां यवनराज अन्तियोक्स तथा अन्य चार राजा टालिमी, अन्तिकिन, मग है, तथा नीचे, जहां चोड़-पाण्ड्य तथा ताम्रपर्णी है, यह धर्म-विजय प्राप्त हुई है।

सम्राट्—प्राचीन काल के राजा धर्म के अनुरूप न बढ़ सके। इसलिए मैंने विविध धर्मानुशासन प्रेषित किया है, मैंने आज्ञा दी है कि वे लोगों को धर्म के प्रति उत्साहित करे। धर्म-प्रचार के हेतु मैंने धर्मसंघ स्थापित किए हैं। यहां धर्ममहामात्यों की नियुक्ति की है। धर्मलिपियां लिखाई हैं। यह सब लोगों के सुख और भलाई के लिए है।

उपगुप्त—सम्राट्, अपनी इस न्याय-समता, और धर्मकर्तव्य से जैसे तू स्वर्ग-प्राप्ति और राजकर्तव्य से उन्नतता प्राप्त करेगा, वैसे ही तेरी प्रजा भी इन्द्रलोक और परलोक में सुखी होगी। सर्वलोक का कल्याण तेरा कर्तव्य है। तेरे इस सत्कृत्य से प्रजा अपने को ईर्ष्या, द्वेष, आलस्य और असहिष्णुता से बचाकर प्रशक्ति, प्रशान्ति, क्षमा-शीलता आदि गुण ग्रहण करेगी।

सम्राट्—इसी से आचार्य, मैंने ऐसा प्रबन्ध किया है कि जिससे प्रत्येक समय, चाहे मैं खाता ही हूं, चाहे अन्तःपुर में होऊं, चाहे महल में होऊं, चाहे यात्रा में रहूं, चाहे वाटिका में भ्रमण करता होऊं, सर्वत्र कहीं भी प्रतिवेदक मुझे प्रजा के कार्य की सूचना दे आवेदन करे।

ये तोषे उटनसि । अघ्न संतिरणयेच कटविय मतेहि मे सब्र लोक-
हिते ।

तिष्य—सर्वलोक कल्याण से बढ़कर कोई दूसरा कार्य नहीं है ।

सम्राट्—मैं जो कुछ भी कार्य करता हूँ, वह इसलिए कि मैं जीवधारी
के ऋण से उच्छ्रान्त होऊँ । इसी हेतु मैंने यह धर्मलिपि लिखवाई कि
चिरस्थायी होवे । और सम्पूर्ण विश्व के कल्याण हित मेरे पुत्र, पौत्र
इसी प्रकार उद्योग करें । वे शस्त्रों द्वारा विजय का विचार न करें ।
उन्हें उदारता-सहिष्णुता और दण्ड-मृदुता में आनन्द मनाना चाहिए ।

तिष्य—सर्वलोक कल्याण से बढ़कर दूसरा कार्य नहीं है ।

राधागुप्त—भगवन् भन्ते, देवताओं के प्रिय-प्रियदर्शी राजा ने विजित
प्रदेशों में, तथा सीमान्त देशों में, दोनों प्रकार की चिकित्सा का
प्रबन्ध किया है । मनुष्य की चिकित्सा तथा पशुओं की चिकित्सा ।
मनुष्य तथा पशुओं के लिए उपयोगी औषधियाँ जहाँ-जहाँ नहीं हैं,
वहाँ-वहाँ वे ले जाई गईं और लगाई गई हैं । इसी प्रकार मनुष्य और
पशुओं के हेतु जहाँ फल और मूल नहीं, वहाँ-वहाँ वे लाए और
बोए गए तथा मार्ग में कुएं खुदवाए और पेड़ लगवाए गए हैं ।

तिष्य—सर्वलोक कल्याण से बढ़कर दूसरा कोई कार्य नहीं है ।

उपगुप्त—किन्तु अभी प्रियदर्शी को गुरुतर कार्य करना अभीष्ट है ।

सम्राट्—कौन-सा गुरुतर कार्य ?

उपगुप्त—संघ का एकीकरण, भेद से रक्षण, संधानुशासन ।

सम्राट्—तो भन्ते भगवन्, संघ को एकत्र किया जाय । संघ-भेद से संघ-
नाश होगा; धर्म अस्थिर होगा ।

तिष्य—प्रियदर्शी ने ठीक कहा । संघ ऐक्यता के लिए उसका पराक्रम
सफलीकृत होगा । आने वाले दुस्तर भेदों से संघ की रक्षा होगी ।
तथागत के वचनों का शुद्ध भाव प्रकट होगा । संघ सुगठित होगा ।

उपगुप्त—ऐसी महासभाएं पूर्व भी हो चुकी हैं । पहली सभा पाटलिपुत्र
में हुई थी, जिसके अधिपति महाकस्सप थे । दूसरी वैशाली में हुई,

जिसका अध्यक्ष प्रियदर्शी ही था । अब तीसरी सभा भी हो, जिसके अध्यक्ष संघपति मोगलिपुत्र तिष्य हों ।

सम्राट्—तो राधागुप्त, प्रबंध करो, व्यवस्था करो । जम्बूद्वीप के सब भिक्षु आएँ । वे पाटलिपुत्र में एकत्र हों । मिथ्यावादी भिक्षु भी आएँ । श्रीभगवान् तिष्य सभापति के आसन पर विराजें और पूछें कि कल्याण रूप भगवान् बुद्ध का धर्म क्या है ? प्रत्येक भिक्षु अपने धर्म-विचार से व्याख्या करे । तब मिथ्यावादी भिक्षुओं को संघ से निकाल दिया जाय ।

राधागुप्त—प्रियदर्शी सम्राट् की जैसी आज्ञा ।

उपगुप्त—साधु ।

तिष्य—प्रियदर्शी का यह पराक्रम अभिनन्दनीय है ।

सम्राट्—भन्ते भगवन्, भगवान् के क्या सिद्धान्त हैं ?

तिष्य—राजन्, धर्म के चौरासी हजार अभिप्राय हैं ।

सम्राट्—तो भन्ते आचार्य, मैं प्रत्येक के लिए एक-एक विहार समर्पित करूंगा । राधागुप्त, चौरासी हजार विहारों के लिए नव्वे हजार घोड़े द्रव्य वितरण कर दो । और स्थानीय राजाओं-रज्जुओं, महा-मंत्री को आदेश भेज दो कि जम्बूद्वीप में चौरासी हजार ग्रामों में विहार बनवाएं ।

राधागुप्त—जैसी प्रियदर्शी महाराज की आज्ञा ।

तिष्य—साधु !

उपगुप्त—साधु ! साधु !!

छठा दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र के राजोद्यान में प्रमदवन

समय—प्रातःकाल

[चेटी आती है ।]

चेटी—(स्वगत) काम ही काम । अभी सूर्योदय भी नहीं हुआ कि मुझे पुष्प-चयन के लिए आना पड़ा । अहा, मनोरम काल है । सरोवर में खिले कमल कैसे सुन्दर दीख रहे हैं । पर हम दासियों को इससे क्या ? रातभर उत्सव रहा, अधिक जागरण से मेरा सिर दुःख रहा है । यहां शिलापट पर बैठती हूँ । (बैठती है)

[दूसरी चेटी आती है ।]

दूसरी चेटी—पता नहीं वासन्ती चली कहां गई । (देखकर) अरे, यह बैठी तो है । (प्रकट) सखी वासन्ती, तुझे खोजते-खोजते तो मैं बूढ़ी हो गई ।

वासन्ती—(हंसकर) बूढ़ी होने पर भी इतनी अभिराम है तू । किसलिए खोज रही थी हला ?

दूसरी चेटी—अरी आर्या पट्ट राजमहिषी पद्मावती कहती हैं—आज नक्षत्र दिवस है । देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी महाराज यहीं प्रमद-वाटिका में पधार रहे हैं ।

वासन्ती—तब तो महिषी असन्धिमित्रा भी उनके साथ आएंगी ।

दूसरी चेटी—नहीं तो क्या ?

वासन्ती—आज यह नक्षत्र दिवस कैसा है सखि !

दूसरी सखी—तुझे इतना भी नहीं मालूम । अरी, आज कुमार धर्म-विवर्धन अन्तपाल नियुक्त होकर गान्धार जा रहे हैं । इसी से ।

वासन्ती—अहा, कुमार धर्मविवर्धन कैसे प्रियदर्शी हैं ।

दूसरी चेटी—वैसी ही प्रियदर्शना हमारी पट्ट राजमहिषी पद्मावती भी तो हैं । योग्य माता के सुयोग्य पुत्र ।

वासन्ती—पर मेने तो सुना है, महिषी आयुष्मान् सम्प्रति से अधिक प्रीति रखती हैं।

दूसरी चेटी—ऐसा तो है ही। एक क्षण भी वे आयुष्मान् को आंखों से दूर नहीं करतीं।

वासन्ती—आयुष्मान् सम्प्रति आर्यकुमार के साथ गान्धार जायेंगे, तब आर्या महिषी क्या करेंगी ?

दूसरी चेटी—आयुष्मान् को वे जाने ही नहीं देंगी। अपने ही सान्निध्य में रखेंगी।

वासन्ती—(हंसकर) पुत्र से अधिक पौत्र प्रिय है।

दूसरी चेटी—(कान में) इसमें एक रहस्य है।

वासन्ती—सच ?

दूसरी चेटी—किसीसे कहना नहीं। आयुष्मान् सम्प्रति ही मगध के भावी सम्राट् हैं, समझ रख।

वासन्ती—अरे, यह कैसी बात ? और महाभट्टारक पादीय कुमार महेन्द्र ?

दूसरी चेटी—(रहस्य की हंसी हंसकर) वे तो एक दिन परिव्रजित हो भिक्षु का काषाय धारण करेंगे।

वासन्ती—शान्तं पापं। जलमुंही, ऐसा बोलती है। महाभट्टारक पादीय का यौवराज्याभिषेक हो चुका है। यह क्या तू नहीं जानती ?

दूसरी चेटी—जानती हूँ। सब जानती हूँ। परन्तु.....

वासन्ती—(ससम्भ्रम, शिलापट से उठकर) आर्या राजमहिषी इधर ही पधार रही हैं।

[राजमहिषी पद्मावती और असन्धिमित्रा धीरे-धीरे बात करती आती हैं। दोनों चेटियां सावधान होकर करबद्ध खड़ी हो जाती हैं।]

पद्मावती—(वासन्ती से) देख तो हला, मासती की लताएं कुसुमित हैं न ?

वासन्ती—आर्ये, खूब कुसुमित हैं, मोतियों की भांति फूल लदे हैं ।

[जल्दी से अंजलि-भर फूल तोड़ लाती है ।]

पद्मावती—बस, बस । अधिक फूल न तोड़ ।

असन्धिमित्रा—किसलिए निवारण करती हैं देवी ?

पद्मावती—आर्यपुत्र आज यहीं पधार रहे हैं । वे फूलों से लदे हुए वृक्ष देखेंगे तो प्रसन्न होंगे ।

असन्धिमित्रा—(हंसकर) आर्यपुत्र को क्या इतना अवकाश होगा ?

पद्मावती—(हंसकर) देवी के सान्निध्य में कदाचित् न हो । देवी को देखकर आर्यपुत्र ठगे-से रह जाते हैं । वह इस व्रीडानमित रूप-माधुर्य को देखेंगे कि पुष्पभारनमित मालती वृक्ष को ।

असन्धिमित्रा—(लजाकर चेटी से) अरी देख, प्रियदर्शी महाराज स्नान से निवृत्त हो चुके या नहीं ?

वासन्ती—जैसी स्वामिनी की आज्ञा । (जाती है)

असन्धिमित्रा—(दूसरी चेटी से) हला, तू आर्यपुत्र के लिए मालती की एक माला गूँथ ले । तब तक हम इस शिलाखण्ड पर बैठती हैं । (पद्मावती से) देवी, हम यहां बैठें ।

पद्मावती—यही ठीक है ।

[दोनों बैठती हैं ।]

असन्धिमित्रा—देवी, क्या आर्यपुत्र आपको बहुत प्रिय हैं ?

पद्मावती—आर्यपुत्र जैसे मेरे हैं, वैसे ही देवी के भी हैं ।

असन्धिमित्रा—(हंसकर) कदाचित् । परन्तु आर्यपुत्र देवताओं के प्रिय हैं, देवियों के प्रिय नहीं ।

पद्मावती—यह क्यों देवी ?

असन्धिमित्रा—धर्मसमुदाचार के कारण । थोड़ा भी स्नेह जो उनके हृदय में है, वह भी धर्म ही के लिए ।

पद्मावती—ठीक है, इसीसे तो आर्यपुत्र देवताओं के प्रिय कहाते हैं ।

असन्धिमित्रा—प्रियदर्शी भी तो ।

पद्मावती—ठीक कहा । (दीर्घ निश्वास लेती है ।)

असन्धिमित्रा—देवी खिन्न हैं । क्या आर्यपुत्र के धर्मसमुदाचार के कारण ?

पद्मावती—पुत्र-वियोग से खिन्न हूँ देवी, पहली ही बार मेरा धर्म-विवर्धन दूर देश जा रहा है ।

असन्धिमित्रा—गान्धार न ?

पद्मावती—गान्धार सीमान्त पर दस्यु हैं, शत्रु-शक्तियां हैं, संघर्ष हैं ।

असन्धिमित्रा—पर देवताओं के प्रिय की धर्मविजय ने सभी संघर्षों को समाप्त कर दिया है । फिर राजकाज तो राजपुत्र को देखना ही है ।

पद्मावती—ठीक है, पर मेरा मातृ-हृदय भी तो है । एक ही मेरा पुत्र है ।

[सम्राट् और धर्मविवर्धन आते हैं ।]

चेटी—(देखकर) अहो, देवानांप्रिय प्रियदर्शी महाराज !

पद्मावती—आर्यपुत्र की जय हो !

असन्धिमित्रा—आर्यपुत्र की जय हो !

धर्मविवर्धन—दोनों माताओं को चरणवन्दना करता हूँ ।

पद्मावती—दीर्घजीवी होओ पुत्र ।

असन्धिमित्रा—यशस्वी-वर्चस्वी-तेजस्वी भूयाः ।

सम्राट्—अहा, शरत्काल के निर्मल अन्तरिक्ष में दूर तक फैले हुए इन धवल अभ्रों के बीच उड़ती हुई सारसों की पंक्ति कैसी भली लग रही है ।

पद्मावती—जैसे मर्यादा की रेखा हो ।

सम्राट्—सच है । धर्म की मर्यादा ऐसी ही उज्ज्वल है । परन्तु शरत्कालीन यह आतप भी दुस्सह है । उस माघवी-मण्डप में चलकर बैठें ।

पद्मावती—जैसी आर्यपुत्र की आज्ञा ।

[सब माधवी मण्डप में आते हैं ।]

सम्राट्—(पद्मावती से) देवी प्रसन्न हों, आयुष्मान् धर्मविवर्धन चिरंजीव सम्प्रति को तुम्हारे ही पास छोड़ जाएगा ।

पद्मावती—पुत्र, कैसे तू पुत्र-वियोग सहन करेगा ।

धर्मविवर्धन—(हंसकर) माता, तुम्हारी ही भांति ।

सम्राट्—चिरंजीव सम्प्रति के बिना मैं भी तो क्षण भर नहीं रह सकता ।

[बेटी आती है ।]

बेटी—(पद्मावती से) यह माला है स्वामिनी ।

पद्मावती—देवी को दे ।

असन्धिमित्रा—किसलिए ?

पद्मावती—सम्यक् उपयोग के लिए ।

असन्धिमित्रा—(हंसकर) अच्छा, (माला लेकर कुमार धर्मविवर्धन के कण्ठ में डालती है ।)

पद्मावती—यह क्या किया ? आर्यपुत्र.....

असन्धिमित्रा—ठीक किया । देवताओं के प्रिय को भी यही रुचिकर होगा ।

सम्राट्—(हंसकर) साधु, साधु !

सातवां दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र का अशोक विहार

समय—प्रातःकाल

[विहार में पाटलिपुत्र की तीसरी सभा जड़ी है। प्रधान आसन पर मोगलिपुत्र तिष्ठ हैं। जम्बूद्वीप के अनेक भिक्षु-स्थविर उपस्थित हैं। सहस्रों काषायधारी भिक्षुक यथा-स्थान बैठे हैं।]

सम्राट्—भन्ते भद्रगण, आपको विदित है कि बुद्ध धर्म और संघ के प्रति मेरी कितनी श्रद्धा-भक्ति और प्रीति है। सब बातें—भद्रगण, जो महाभाग बुद्ध के मुख से उच्चारित हुई हैं, वे सब अक्षरशः सत्य और सुन्दर हैं। और निस्संदेह भद्रगण, जहां तक मैं अनागत का निरूपण कर सकता हूं, मुझे विश्वास रखना चाहिए कि सत्य-धर्म चिरस्थापित होगा।

उपगुप्त—भिक्षुओं, आज नौ मास से यह महासभा हो रही है। इसमें सब भिक्षुओं की परीक्षा हुई है और साठ हजार मिथ्यावादी भिक्षु संघ से निकाल दिए गए हैं। अब संघ का शुद्ध संगठन होना आवश्यक है।

सम्राट्—भद्रगण, जब तक मेरे पुत्र और परपौत्र शासन करें, जब तक चन्द्र और सूर्य तपें, तब तक भिक्षु और भिक्षुणियों का संघ संयुक्त रहेगा। भिक्षु या भिक्षुणी जो कोई भी संघ-विभेद करेगा, उसे सफेद वस्त्र पहनाकर संघ से और विहार से बहिष्कृत कर दिया जाएगा।

उपगुप्त—संघ संयुक्त और चिरंजीवी हो। सम्राट् धर्म के प्रति अत्यन्त श्रद्धावान् हैं। उनकी इच्छा ठीक ही है कि संघ-भेद न हो। उसकी श्री-वृद्धि हो। इसलिए भिक्षुओं, संघ का उल्लंघन कोई नहीं कर सकेगा। जो कोई भिक्षु या भिक्षुणी संघ को तोड़े, उसे सफेद वस्त्र

पहनाए जाएंगे। उसे विहार से अलग रहना होगा। यह संघ का अनुशासन है।

सम्राट्—भद्रगण, आचार्यों ने धर्म-ग्रन्थों का निर्णय कर लिया है। मेरा आदेश है कि प्रत्येक भिक्षु-भिक्षुणी इनका नित्य अध्ययन करे। उन्हें कंठाग्र करे, जिससे धर्म की उन्नति हो। धर्म के इन प्रकरणों को भद्रगण, मेरी अभिलाषा है कि भिक्षु तथा भिक्षुणियां अत्यधिक संख्या में श्रवण और मनन करें। भिक्षु-भिक्षुणियों के अतिरिक्त साधारण जनता भी ऐसा ही करे—यही अभिलाषा है। इसीसे मैंने महामात्रों को आदेश दिया है कि वे मेरा आदेश कोट-नगर में साधारण वर्ग तक पहुंचा दें।

उपगुप्त—भिक्षुओं, संघ में दो भेद हो गए थे। थेरेवाद और महा-सांघिक। ये भेद देवताओं के प्रिय को स्वीकार न थे। सम्राट् इन भेदों को संघ-नाशक समझते थे। अब नौ महीने के विवाद से यह भेद मिट चुका है। संघ पुनः संगठित हो चला है। साठ हजार मिथ्यावादी भिक्षु संघ से निकाल दिए गए हैं। भिक्षुओं, कहो तो—कल्याणमय भगवान् का सिद्धान्त क्या था ?

सब—(एक स्वर से) सत्यता।

सम्राट्—भद्रगण, पाप-भिक्षु निकाल दिए गए। संघ विमलीकृत हुआ। अब 'उपोसथो' मनाना चाहिए, अनुमति देता हूं। एक सहस्र पवित्र भिक्षु, जो प्रज्ञा ज्ञानवान् है, धर्मसभा में गया है; जिसके स्वामी थीरो भगवान् तिस्स हैं।

तिष्य—भिक्षुओं ! धर्म अच्छा है, साधु है, पाप से अपने को बचाना। सुकृत करना, दया-दान-सत्यता और शुद्धता—जो इन धर्मानुशासन पर आचरण करेगा, वह सुकृत करेगा, सुखी रहेगा।

आठवां दृश्य

स्थान—युवराज भट्टारक पाद्रीय महेन्द्रादित्य का रंगमहालय

समय—रात्रि का प्रथम प्रहर

[युवराज महेन्द्रादित्य और उनकी पत्नी चारुशीला उद्यान में एक स्फटिक शिला पर बैठे हैं। चांदनी रात है। उद्यान से गंगा की श्वेत धारा दीख रही है। युवराज की गोद में शिशु है। शिशु की आयु एक वर्ष है। वह शीतल मन्द समीर के सुख स्पर्श से आनन्द क्रीड़ा कर रहा है।]

महेन्द्र—प्रिये चारुशीले, चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से स्निग्ध रात्रि का यह प्रथम प्रहर घाट के प्रथम प्रासाद के समान ही सुखदायी है।

चारुशीला—हां, आर्यपुत्र, उस दिन जब हम प्रथम बार मिले थे—ऐसी ही स्निग्ध चांदनी रात थी।

महेन्द्र—तुम्हें वह याद है ?

चारुशीला—अभी एक ही वर्ष तो पूरा हुआ है। भूल जाऊँगी उसे। उस मधुमयी रात्रि को जिसने मेरे जीवन को एक ही क्षण में आपूर्य-माण कर दिया था। तब से अब तो एक और श्रीवृद्धि हुई है।

महेन्द्र—कैसी श्रीवृद्धि ?

चारुशीला—(हंसकर क्रीड़ा से) यह पुत्र हमारी आत्मा का मूर्त अवतरण, हमारे आन्तरिक प्रेम का सजीव पुरस्कार।

महेन्द्र—(हंसकर) यह तो सुधाघर की प्रतिमूर्ति ही तुमने बनाई है, प्रिये, (हाथ पसारकर) आ पुत्र।

[बालक को अंक में लेकर प्यार करता है। बालक चन्द्रमा को देखकर हंसता है।]

चारुशीला—तुम्हारी ही आंखें, तुम्हारे ही होंठ, हास्य, और आनन्दमय प्रकृति का यह एक छोटा-सा संस्करण है, आर्यपुत्र।

महेन्द्र—मृदुल संस्करण, जिसमें तुम्हारा मार्दव-सौष्ठव भी सम्मिलित

है। जैसे यहां हम दोनों अपना पृथक्त्व खोकर एकीभूत हो गए हैं। इस पुत्र में न तुम मुझसे पृथक् हो, न मैं तुम से।

चारुशीला—हां, स्वामी। एक दिन यही तुम्हारे चरण-चिन्हों पर चक्रवर्ती के सिंहासन पर आरूढ़ होगा।

महेन्द्र—यह अभी से कैसे कहा जा सकता है प्रिये।

चारुशीला—क्यों नहीं। क्या प्रियदर्शी महाराज ने तुम्हें युवराज पद पर अभिषिक्त नहीं किया।

महेन्द्र—किया है प्रिये।

चारुशीला—तो एक दिन मैं साम्राज्ञी बनूंगी। और मेरा पुत्र साम्राज्य का भावी सम्राट्। क्या इसमें तुम चक्रवर्ती के चिन्ह नहीं देख रहे।

महेन्द्र—(गंभीर होकर) मैं और भी कुछ देख रहा हूँ प्रिये।

चारुशीला—और क्या ?

महेन्द्र—देवताओं के प्रिय महाराज का धर्मानुशासन साम्राज्य से ऊपर उठ रहा है। उन्होंने वीरघोष को धर्मघोष बनाया है।

चारुशीला—तो इससे क्या। धर्म का राज्य तो और भी महत्वपूर्ण है। क्या तुम नहीं देखते, देवताओं के प्रिय महाराज का यश पूर्ववर्ती सभी सम्राटों से अधिक कीर्तिमान हो रहा है।

महेन्द्र—देख रहा हूँ। इससे मैं यह समझता हूँ कि पृथ्वी के इस साम्राज्य से तो धर्म का साम्राज्य ही श्रेयस्कर है।

चारुशीला—दोनों एक ही तो हैं, आर्य पुत्र। देवताओं के प्रिय महाराज दोनों ही के एक मात्र सम्राट् हैं।

महेन्द्र—पर सम्राट् पहले शस्त्र-ग्रहण कर चुके हैं। कलिंग का पातक कितना बड़ा है। जानती हो। अभी भी साम्राज्य की सेना है, राज परिच्छद हैं। जय-विजय हैं। इससे मैं देखता हूँ प्रिये कि धर्म का साम्राज्य पृथ्वी के साम्राज्य से पृथक् ही ठीक है।

चारुशीला—(शंकित होकर) इससे तुम्हारा क्या अभिप्राय है स्वामिन्।

महेन्द्र—(गम्भीर होकर) सोचता हूँ कभी-कभी कि मैं भी प्रव्रजित होकर धर्मानुशासन करूँ ।

चारुशीला—(भयभीत स्वर में) प्रव्रजित होकर क्यों ? प्रियदर्शी महाराज की भांति धर्मसिंहासन पर बैठकर क्यों नहीं ?

महेन्द्र—फिर यदि बाधित होकर शस्त्रपाणि होना पड़े ।

चारुशीला—देवताओं के प्रिय भी तो शस्त्र त्याग चुके ।

महेन्द्र—यह कितना दुष्कर है प्रिये, यह मैंने देखा है । (एकाएक चुप हो जाता है ।)

चारुशीला—(पुत्र को महेन्द्र की गोद में देकर) यह तुम्हारा पुत्र है स्वामिन्, इसे त्यागकर प्रव्रजित होना क्या सुकर है ?

महेन्द्र—तुम्हें त्यागकर भी सुकर नहीं है । परन्तु करणीय तो करणीय ही है ।

[बालक दोनों बाहें पिता के कंठ में डालकर हंसता है ।]

महेन्द्र—(हंसकर) तुम गम्भीर क्यों हो गई प्रिये, यह प्रियदर्शन तो मेरी बात सुनकर हंसता है । कौन जाने यह भी प्रव्रजित होना चाहता है ।

चारुशीला—यह संघ तो राजा-रंक सभी के घरों को शून्य कर रहा है । स्वामिन्, मेरा मन तो इससे विद्रोह करता है ।

महेन्द्र—(हंसकर) विद्रोह क्यों प्रिये ?

चारुशीला—क्या धर्मपथ प्रव्रजित होकर ही अपनाया जा सकता है । गृहस्थ भी तो धर्म है ।

महेन्द्र—धर्म ही क्यों, धर्मों का केन्द्र है ।

चारुशीला—सभी गृहस्थ यदि प्रव्रजित हों तो क्या यह श्रेयस्कर होगा ?

महेन्द्र—कुछ लोग जन-कल्याण के लिए प्रव्रजित होते हैं, कुछ अपने कल्याण के लिए ।

चारुशीला—मैं तो जानती हूँ, जीवन का मध्य तरुण अवस्था है, उसका केन्द्र गृहस्थ धर्म है । पवित्र गृहस्थ धर्म सब धर्मों से श्रेष्ठ है । यही तो तथागत ने कहा है ।

महेन्द्र—(हंसकर) यही आर्या चारुशीला कह रही हैं । किन्तु हमारा यह पुत्र केवल हंस रहा है । (बालक को माता की गोद में देकर) कदाचित् हम जीवन के सच्चे रूप को नहीं समझते ।

चारुशीला—सम्बुद्ध ने मध्यम मार्ग की ही प्रशंसा की है । गृहस्थ धर्म ही मध्यम मार्ग है ।

महेन्द्र—फिर भी प्रिये, तथागत प्रव्रजित हुए । उस समय वे तरुण थे; जैसा मैं हूँ । 'उनका एक भी बाल सफेद न हुआ था । उनके माता-पिता अनुमति नहीं देते थे । अश्रुप्रवाह से उनके मुख भीग गए थे । वे निरन्तर रो रहे थे । फिर भी वे सिर मुड़वाकर काषाय पहनकर घर से निकल पड़े । और परिव्राजक बने ।

चारुशीला—किन्तु आर्य पुत्र तो देवताओं के प्रिय महाराज का ही अनुसरण करेंगे ।

महेन्द्र—(हंसकर) तथागत का क्यों नहीं ।

चारुशीला—(अश्रु बहाती हुई)आप ऐसा क्यों विचारते हैं स्वामी । अभी हमारी तरुण अवस्था है । जीवन का प्रभात है । प्रभु ने हमारी गोद भरी है । हमें प्रथम अपना कल्याण करना है, पीछे दूसरों का ।

महेन्द्र—ऐसा क्यों प्रिये, क्यों न हम औरों ही के कल्याण में अपना कल्याण मानें ।

वेदना का भार ।

विश्व पर छाया हुआ है वेदना का भार ।

प्राणियों का आर्त स्वर अविराम हाहाकार ।

रूप का, वार्धक्य में है एक निश्चित अंत ।

जन्म का परिणाम अन्तिम मरण ही है हन्त ।

ज्ञान-प्रज्ञाहीन मानव स्वार्थरत दिन-रात ।

दुखी होकर सह रहा संघर्ष का प्रतिघात ।

खोलदूँ इनके लिए मैं क्यों न करुणा-द्वार ।
 क्यों न मैं ही हरण करलूँ वेदना का भार ।
 वेदना का भार ।

[गम्भीर चिन्तन में डूब जाता है]

नवम दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र नगर का अशोकाराम महाविहार

समय—प्रातःकाल

[विहार में बौद्ध संघ की विशेष सभा का अधिवेशन हो रहा है । संघ के साठ हजार भिक्षु पीतवसन मुंडित सिर बैठे हैं । संघ के सभा-पति मोग्गलिपुत्र तिष्य उच्चासन पर विराजमान हैं । उन्हीं के निकट स्थविर उपगुप्त बैठे हैं । सम्राट् भी आचार्यों के निकट सिंहासन पर बैठे हैं । उनके निकट राजपरिवार के व्यक्ति भट्टारक पादीय युवराज महेन्द्रकुमार, उनका पुत्र सुमन, राजकुमारी संघमित्रा, उसका पति अग्निब्रह्मा और पुत्र सुमन तथा राजकुमारी चारुमती और उसका पति देवपाल, राजपुत्र हिवाला जालोका यथास्थान आसनों पर बैठे हैं । अवरोध में असन्धिमित्रा, पद्मावती, कारु-वाणी, महादेवी; राजमहिषियाँ बैठी हैं । छत्रधर, वण्डधर, द्वारपाल, संदेश-वाहक, धर्मपाल, धर्मात्म्य भी यथास्थान उपस्थित हैं । सम्राट् के निकट वृद्ध महामात्य राधागुप्त गम्भीर मुद्रा में बैठे हैं ।]

[संघ के बीच खड़ा होकर]

सम्राट्—संघ सुने । तीन वर्ष के सतत प्रयास से महाविहार आज सम्पूर्ण हुआ । इसमें साठ हजार भिक्षुओं का नित्य वधान होगा ।

अब मैं यह विहार संघ के अर्पण करता हूँ। इसके अतिरिक्त सारे जम्बूद्वीप के चौरासी हजार नगरों में चौरासी हजार चैत्यों से मण्डित चौरासी हजार विहार भी बनकर सम्पूर्ण हुए हैं। उन्हें भी मैं संघ के अर्पण करता हूँ।

तिष्य—आज जम्बूद्वीप में धर्मराज अशोक की विजय-दुन्दुभि वज्र रही है। जम्बूद्वीप काषाय से जगमगा रहा है। संघ के लिए दिया यह दान मैं संघ के लिए ग्रहण करता हूँ। पाटलिपुत्र का यह महाविहार अब से संसार में कीर्तिमान और अशोकाराम के नाम से विख्यात हो। इसकी व्यवस्था और रक्षण के लिए मैं इन्द्रगुप्त स्थविर को नियुक्त करता हूँ। शेष विहारों की और चैत्यों की व्यवस्था थेर उपगुप्त करेंगे।

सम्राट्—(संघ के बीच खड़े होकर) संघ सुने। लोक-कल्याण के लिए मैंने धर्म-स्तम्भ स्थापित किए हैं। धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की है। पाषाण-स्तम्भों और पाषाण-शिलाओं पर धर्म-लेख उत्कीर्ण किए हैं।

उपगुप्त—सम्राट् के इस पराक्रम से जम्बूद्वीप के वे लोग जो देवताओं से परिचित न थे, अब परिचित हो गए हैं। धर्मराज के धर्मानुशासन का अनुसरण करने से वे लोग पुण्यात्मा हो गए हैं।

सम्राट्—मैंने धर्मलेख उद्घोषित किया है कि किसी जीव का वध न हो, किसी जीव का होम न किया जाए।

तिष्य—बहुत समय हुआ, सैंकड़ों जीवों की हिंसा, प्राणियों के प्रति क्रूरता, सम्बन्धित ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति अनादर बढ़ता गया—किन्तु आज देवताओं के प्रिय के धर्माचरण के कारण 'वीर-घोष' धर्मघोष हुआ। जनता में धर्माचरण की रुचि हुई, जिससे उन्हें आनन्द और स्वर्ग की प्राप्ति होगी।

सम्राट्—(खड़े होकर) संघ सुने, इसी कारण मैंने धर्मानुशासन प्रकाशित किए हैं। तथा अनेक प्रकार से धर्म की शिक्षा दी है। मेरे पुरुष जो

सहस्रों के ऊपर शासन करने के लिए नियत हैं, धर्मप्रचार एवं कर्म-प्रसार कर रहे हैं। रज्जुक, जो सौ सहस्र प्राणियों पर शासन के लिए नियुक्त हैं, वे धर्मानुरक्त लोगो को धर्मशिक्षा दें। इस प्रकार मैंने धर्मानुशासन, धर्मलिपि, धर्मस्तम्भ, धर्मविधान, धर्ममहामात्र का प्रसार किया है। पहले कर्मों में पारस्परिक विरोध था, इससे मैंने सब धर्मों और सम्प्रदायों के लिए जो धर्ममहामात्रों की स्थापना की है, वे धर्मस्थापना, धर्म की देखभाल, तथा धर्म की वृद्धि के लिए है।

राधागुप्त—देवताओं के प्रिय के धर्म का सर्वत्र अनुसरण हो रहा है।

उन राज्यों अथवा देशों के लोग भी, जहां देवताओं के प्रिय के दूत नहीं जा सकते, देवताओं के प्रिय का धर्माचरण सुनकर, धर्म पर आचरण करते हैं और करेंगे।

उपगुप्त—देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा की यह धर्मविजय सर्वत्र प्रेम को देने वाली है। धर्म-विजय ही से स्नेह प्राप्त होता है।

सम्राट्—(खड़े होकर) संघ सुने। विदेशों में धर्म-प्रचार सक्रियता से हो रहा है। अतियोकस, तुरयय, अंतिगोनस, पैठानिक, राष्ट्रिक, मग, आलंक सुन्दर, कम्बोज, नाभाक, नाभपति, आंध्र के राज्यों तथा सीरिया, मिस्र, मेरीडीनिया, इपीरस, कैरीन तथा दूरस्थ दक्षिण चौड़, पाण्ड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णी के राज्यों में पूर्ण धर्म-विजय हो चुकी है। इन सब राज्यों ने भगवात् बुद्ध का धर्मानुशासन अंगीकार कर लिया है।

राधागुप्त—बाह्य राजाओं ने भी धर्मानुशासन माना है। स्वतन्त्र यवन-राज अत्रा ने भी ऐसा ही किया है।

उपगुप्त—सम्राट् ने यह धर्म-विजय अपने मांगलिक कार्यों से पाई है।

सम्राट्—(खड़े होकर) संघ सुने, हिमवन्त में थीरो मभक्तिक ने चौरासी हजार गन्धर्वों, नागों और बुम्भकों को धर्मानुशासित कर परिब्रजित किया है। स्थविर महादेय ने महिसामंडल में चालीस हजार मनुष्यों को

भिक्षु बनाया है। थीरोरक्षित ने वनवास प्रदेश में साठ हजार श्रावक और सैंतीस हजार भिक्षु बनाए हैं। थीरोरक्षित ने पांच हजार विहार भी स्थापित किए हैं। थीरो योनको धर्मरत्तित ने अपरन्तका प्रदेश में सत्तर हजार श्रावक तथा एक हजार क्षत्रिय स्त्री-पुरुषों को परिव्रजित कर भिक्षु संघ में प्रविष्ट किया है। पुण्यात्मा थीरो महाधर्मरक्षित ने मरट्टा में तेरह हजार भिक्षुओं को दीक्षा दी है। थीरो-महारक्षित मज्जहिमो, कस्सपो मलिक देवो धुन्धिमुनिसो ने लक्षावधिजनों को सद्धर्म की दीक्षा दी है। आचार्य सोन और आचार्य उत्तर ने स्वर्णभूमि में छः लाख मनुष्यों को दीक्षा दी है। तथा पन्द्रह सौ भिक्षुणियां थेरी बनाई हैं। अब कल्याण-मय भगवान् बुद्ध के धर्म-दीपक मोग्गलपुत्र तिष्य धर्म के भविष्य पर विचार करें।

तिष्य—(हाथ उठाकर) राजन् ! तेरे सदृश धर्म का उपकारक तू ही है।

सम्राट्—तो भन्ते भगवन्, मैं शासन का दायद हूं या नहीं ?

मोग्गलपुत्र तिष्य—महाराज, इतने से शासन का दायद नहीं, प्रत्यय-दायक, या उपस्थापक कहलाया जाता है। जो पृथ्वी से लेकर ब्रह्म-लोक तक की प्रत्यय-राशि भी देवे, तो भी वह दायद नहीं कहा जा सकता।

सम्राट्—(बढ़ांजलि) तो भन्ते, शासन का दायद कैसे हुआ जाता है ?

तिष्य—महाराज, यदि आप अपने सर्वप्रिय पुत्र को प्रव्रजित करें तो आपको शासन का दायद कहा जा सकता है।

[सम्राट् आकुल दृष्टि से इधर-उधर देखते हैं। युवराज महेन्द्र पर उनकी दृष्टि ठहर जाती है।]

सम्राट्—यद्यपि मैं प्रिय पुत्र महेन्द्र को युवराज-पद दे चुका हूं, पर अब सोचता हूं, युवराज-पद से प्रव्रज्या अच्छी है, हितकर है, कल्याण-कारी है। (कुछ रुककर) तात, प्रव्रजित हो सकते हो ?

महेन्द्र—(शासन से उठकर बढ़ांजलि) देव, प्रव्रजित होऊंगा। देव, मुझे

प्रव्रजित कर शासन के दायार बनें ।

सम्राट्—(स्त्रियों में बंठी राजकुमारी संघमित्रा की ओर देखकर)

अम्म, तू भी प्रव्रजित होना चाहती है ?

संघमित्रा—हां तात, चाहती हूं ।

सम्राट्—(तिष्य से) भन्ते, इन दोनों बच्चों को प्रव्रजित कर मुझे

शासन-दायार बनाइए ।

तिष्य—(कुमार से) आयुष्मन्, तेरी आयु कितनी है ?

महेन्द्र—(बद्धांजलि) भन्ते, मैंने बीस शरद व्यतीत किए हैं ।

तिष्य—(राजकुमारी से) और आयुष्मती तेरी आयु कितनी है ?

संघमित्रा—भन्ते आचार्य, मैंने अठारह वसन्त देखे हैं ।

तिष्य—तो आयुष्मन्तो, पांच बातों से युक्त को उपसम्पदा और प्रव्रज्या

मिल सकती है—जो पूर्ण शीलपुंज से युक्त हो, सम्पूर्ण समाधिपुंज

से संयुक्त हो । सम्पूर्ण प्रज्ञापुंज से युक्त हो । सम्पूर्ण विमुक्तिपुंज से

वियुक्त हो । तुम क्या इन पांच बातों से युक्त हो ?

महेन्द्र—हां भन्ते ।

तिष्य—और तू पुत्री ?

संघमित्रा—मैं भी भन्ते

तिष्य—तो संघ सुने । दोनों प्रव्रज्या ग्रहण करें, उपसम्पदा ग्रहण करें ।

क्या संघ को आपत्ति है ? दूसरी बार भी पूछता हूं । तीसरी बार

भी । (कुछ रुककर) सब चुप हैं । तो संघ की अनुमति से

स्थविर महादेव आयुष्मान् को प्रव्रजित करें, और माध्यन्तिक

स्थविर उसे उपसम्पन्न करें । इसी प्रकार आचार्या आपुपाला थेरी

और उपाध्याया धर्मपाला थेरी आयुष्मती को प्रव्रजिता करें ।

उपसम्पदा दें ।

[महेन्द्र और संघमित्रा को सिर मुड़ाकर काषाय पहनाया जाता है । एक कन्धे पर उपरना कर दोनों भिक्षुओं की पाद-चन्दना करते हैं । फिर बद्धांजलि उकड़ूं बैठते हैं । आचार्यगण उनसे

तीन बार शरण-गमन से श्रामणेण प्रव्रज्या देते हैं । भिक्षुसंघ तीन वचनों से जयघोष करता है ।]

संघमित्रा—आर्य सुने । मेरे पति तिष्यकुमार के साथ प्रथम ही प्रव्रजित हो चुके हैं । मैं आज संघ की शरण आई, और अब यह मेरा पुत्र सुमन है, इसके कल्याण के लिए, इसे भी प्रव्रज्या मिले ।

तिष्य—संघ सुने । अनुमति देता हूँ, आयुष्मान् को प्रव्रज्या मिले ।

[तीन वचनों से प्रव्रज्या होती है ।]

तिष्य—तो श्रामणेण महेन्द्र और थेरी संघमित्रा, तुम दोनों सामनेर सुमन सहित स्थविर इट्ठिय और भंडक उपासक के साथ, अशोकाराम से निकलकर दक्षिण गिरिदेश में छः मास चारिका करो ।

दोनों—जैसी आचार्य की आज्ञा । आचार्यों और सम्राट् को प्रणाम करते हैं ।

[सिर नवाकर जाते हैं ।]

सम्राट्—(स्वगत) अहा, पुत्रप्रेम मेरे हृदय को छेदने लगा । किन्तु धर्म पुत्र से बड़ा है । आयुष्मानो, तुम्हारी धर्म में मति हो । (आंसू पोंछते हैं ।)

[सभा विसर्जन होती है ।]

दसवां दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र का अन्तःपुर

समय—प्रातःकाल

[महाराजकुमार महेन्द्र मुण्डित सिर, पीत-वसन भिक्षा-चर्या के लिए अपनी माता विविशादेवी राजमहिषी की ड्योढ़ियों पर पहुँचते हैं। उनके साथ स्थविर इट्टिय और श्रमण भंडक भी हैं।]

देवी विविशा—(आँखों में आँसू भरकर) अरे पुत्र, मैंने तो तुझे ससागरा पृथ्वी का सम्राट् होते देखने का स्वप्न देखा था। और तू आज काषाय धारण कर मुण्डित सिर यहां चारिका के लिए आया है। अरे तात, किस निर्दय ने तेरे सघन सुचिक्कण घुंघराले केशों को काटने का पातक किया।

महेन्द्र—महाभागे, धर्म के लिए, सबके सुख के लिए, सबके हित के लिए मैं प्रव्रजित हुआ हूँ।

दे० वि०—अरे पुत्र, मेरी छाती में शूल बिध गया। (दोनों हाथों से छाती पकड़ती है।)

महेन्द्र—आर्यो, सब संसार जल रहा है, चक्षु जल रहा है, रूप जल रहा है, चक्षु का विज्ञान जल रहा है। चक्षु का संस्पर्श जल रहा है। और चक्षु के संस्पर्श के कारण जो वेदनाएँ—सुख-दुख; न सुख न दुःख,—उत्पन्न होती हैं, वह भी जल रही हैं। राग-अग्नि से, द्वेष-अग्नि से, मोह-अग्नि से, जल रहा है। जन्म-जरा से, और मरण के योग से, रोने-पीटने से, दुःख से, दुर्मनस्कता से जल रहा है।

दे० वि०—यह तू क्या कह रहा है पुत्र।

महेन्द्र—यह देखने वाले को चक्षु से निर्वेद प्राप्त होता है। रूप से निर्वेद प्राप्त होता है, चक्षु-विज्ञान से निर्वेद प्राप्त होता है, चक्षु-संस्पर्श से निर्वेद प्राप्त होता है। चक्षु-संस्पर्श के कारण जो यह उत्पन्न होती है

वेदना—सुख-दुःख, न सुख न दुःख—उससे भी निर्वेद प्राप्त होता है। इसी प्रकार श्रोत्र से, जिह्वा से, काय-स्पर्श से, मन से निर्वेद प्राप्त होता है। मन संस्पर्श से निर्वेद उत्पन्न होता है। निर्वेद से विरक्त होता है—विरक्त होने से मुक्त होता है। मुक्त होने पर 'मैं मुक्त हूँ' यह ज्ञान होता है।

दे० वि०—(आंसू पोंछकर) मैं भी तेरे दर्शन से माया-मुक्त हो गई तात। चक्षु से, श्रोत्र से, स्पर्श से, मन से, निर्वेद प्राप्त कर चुकी। तू मेरा पुत्र नहीं, भावी सम्राट् नहीं, तू ज्ञानी है, तू धर्म-चक्षु है, तू स्थविर है, मैं तेरी चरण-वन्दना करती हूँ। (चरणों में गिर जाती है।)

महेन्द्र—देवी का कल्याण हो। अब भिक्षा मिले।

दे० वि०—(भिक्षा देकर) स्थविर, कुछ दिन यहीं वास करो, यह मेरा अनुरोध है।

महेन्द्र—मुझे आचार्य ने दक्षिण गिरि में छः मास चारिका करने का आदेश दिया है।

दे० वि०—तो स्थविर, एक मास यहां चारिका करो। मैं एक बार और आँख भर कर देख लूँ।

महेन्द्र—आचार्य से अनुमति लेकर कह सकता हूँ। (जाने को मुड़ता है।)

दे० वि०—क्या जा रहे हो, चारु से बिना ही मिले। कुसुम-कोमल पुत्र को बिना ही देखे।

महेन्द्र—(रुककर) कहां है चारु, आई क्यों नहीं ?

दे० वि०—स्थविर, तुम तो विमल विरज धर्मचक्षु प्राप्त कर चुके, पर वह बहुत मानिनी है। तुम्हें उसके पास जाना चाहिए।

महेन्द्र—तो देवी मार्ग दिखाइए।

दे० वि०—(शागे बढ़कर) इधर से स्थविर।

[महेन्द्र माता के साथ आगे बढ़कर पत्नी के कमरे में]

पहुँचते हैं। पत्नी पुत्र को गोद में लेकर द्वार पर आ खड़ी होती है।]

दे० वि०—(रुककर अवरुद्ध कण्ठ से) वस, अब मैं और नहीं देख सकती। अरे प्रज्ञानिधि, कैसे तू पति-प्राणा पत्नी का और प्राणा-धिक पुत्र का विसर्जन करेगा ?

[वहीं रुक जाती है।]

महेन्द्र—(आगे बढ़कर पत्नी के सम्मुख जाकर) कल्याण। कल्याण।

युवराज्ञी—कल क्या था और आज क्या हो गया। जीवन के प्रभात में ही तुषारपात हो गया। मेरी सारी अभिलाषाएं मन में ही रह गईं। अरे, इस कुसुम-कोमल पुत्र का चुम्बन भी तुम भूल गए। (सिसक-सिसककर रोती है।)

महेन्द्र—आर्यो, भूत-दया और विश्वप्रेम के लिए।

चार०—पर जो स्वजनों पर दया नहीं करता, प्रेमाधारों से प्रेम नहीं करता, वह कैसी भूतदया और विश्वप्रेम की बात कहता है। यह कैसा धर्म है, जो लोगों को घर से बेघर करता है। पति से पति को पृथक् करता है, पिता को पुत्र से दूर ले जाता है। यह दयाधर्म नहीं, पाषाण धर्म है।

महेन्द्र—आर्यो, अनेक के लिए एक का और बहुत के लिए अल्प का त्याग करना चाहिए। यही आत्मबलि है। यही धर्मोत्सर्ग है।

चार०—कैसा धर्मोत्सर्ग !

महेन्द्र—देवी, किसान खेत में बीज बोता है, वह बीज जब सड़ता है, तब उसमें अंकुर फूटता है। अंकुर से नए वृक्ष की उत्पत्ति होती है। बीज का यह उत्सर्ग ही उत्पादन का मूल है। जीवन में यही धर्मोत्सर्ग है।

चार०—(आंसू पोंछकर) तो अब स्थविर यहां किस लिए पधारे हैं ?

महेन्द्र—(भिक्षापात्र आगे करके) चारिका के लिए। भिक्षा-चर्या के लिए।

चार०—(पुत्र को भिक्षु के अंक में डालकर) लीजिए । यह मेरी भिक्षा ग्रहण कीजिए । जहां पति वहां पुत्र । (मूर्छित होकर गिर जाती है ।)

ग्यारहवां दृश्य

स्थान—अशोकाराम

समय—प्रातःकाल

[अलिन्द में मोगलिपुत्र तिष्य, आचार्य उपगुप्त और सम्राट् बैठे हैं । अन्य प्रमुख आचार्य और उपाध्याय भी हैं । महेन्द्र भिक्षु सम्मुख उकड़ूं बैठा है ।]

तिष्य—आयुष्मान् को महत्कार्य-भार देना चाहता हूं ।

महेन्द्र—जैसी आचार्य की इच्छा ।

तिष्य—तो पुत्र, तू सिंहलद्वीप में जा । वहां अन्धकारावृत्त अर्द्धसम्य जनों को सद्धर्म का आलोक दिखा ।

महेन्द्र—जैसी आज्ञा ।

तिष्य—भूखण्ड में सर्वत्र ही सद्धर्म का प्रकाश आलोक बिखेर रहा है । केवल सिंहलद्वीप अभी तक अन्धकाराच्छन्न है । वहां सावधान पुरुष की आवश्यकता है । सो पुत्र, तू ही जा ।

महेन्द्र—जैसी आज्ञा ।

तिष्य—वहां का राजा पण्डित है । धर्म समझता है । तेरी धर्म-विजय चिरस्थायी होगी ।

महेन्द्र—जैसी आज्ञा ।

तिष्य—बारह श्रमण और स्थविर, जैसा तू चाहे अपने साथ ले जा ।

महेन्द्र—जैसी आज्ञा । देवताओं के प्रिय की अनुज्ञा हो ।

सम्राट्—(आसू पोंछकर) अनुमति देता हूं । धर्म के लिए, जीवों के कल्याण के लिए । प्रथम गंगा पर नाव के द्वारा, फिर विन्ध्याटवी पार कर सात दिन में तू ताअलिति पहुंचेगा, आयुष्मान् । सात दिन फिर नाग राजा के राज्य से जाना होगा । फिर जम्बुकीलपट्टन से अनुराधापुर समुद्र में जाना होगा ।

महेन्द्र—जैसी आज्ञा ।

[भिक्षुणी संघमित्रा आती है ।]

संघमित्रा—गुरुजनों और देवताओं के प्रिय को नमन करती हूं ।

सब—धर्मवृद्धि हो ।

संघमित्रा—आचार्य, मैं भी सिंहल जाऊंगी । वहां की स्त्रियों की सुश्रूषा करने, उन्हें धर्म के आलोक से प्रकाशमान करने । आर्य भन्ते, अनुमति हो

तिष्य—आयुष्मती को मैं अनुमति देता हूं ।

उपगुप्त—मैं भी ।

सम्राट्—(गद्गद् कण्ठ से) मैं भी अनुमति देता हूं । जाओ बच्चो, धर्म-सत्र करके जीवन को धन्य करो ।

संघमित्रा—मैं बोधिसत्व साथ ले जाकर वहां आरोपित करूंगी । उसी की छाया में धर्म-प्रसार होगा ।

तिष्य—संघमित्रा धेरी, ऐसा ही करे । अनुमति देता हूं ।

उपगुप्त—अनुमोदन करता हूं ।

[दूसरा अंक समाप्त]

तीसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—समुद्र का अनन्त विस्तार

समय—ग्रीष्म ऋतु । सन्ध्या काल

[एक तरणी धीरे मन्द गति से काम्बोज के समुद्र से दक्षिण दिशा की ओर समुद्र-गर्भ में बढ़ती जा रही है । तरणी क्षुद्रा है । और उसके द्वारा अनन्त सागर की यात्रा करना भयंकर दुःसाहस का काम है । तरणी हल्के, किन्तु दृढ़ काष्ठफलकों को चर्म-रज्जु से बांधकर और बीच में बांस का बांध देकर बनाई गई है । ऊपर उसके चर्म मढ़ा है । वह बहुत छोटी और हल्की है, जो पानी पर पक्षी की भाँति तैर रही है । तरणी में एक ओर कुछ खाद्य पदार्थ मृद्भाण्डों में धरे हैं, जिनका मुँह वस्त्र से बंधा है । निकट ही बड़े-बड़े पिटारों में भूर्ज-पत्र पर लिखित ग्रन्थ भर रहे हैं ।

तरंगी के बीचोंबीच बारह मनुष्य बैठे हैं। प्रत्येक के हाथ में एक-एक पतवार है। और वह प्रबल वायु के प्रवाह के विपरीत दृढ़ता से पकड़े हुए हैं। उनके वस्त्र पीत, और सिर मुण्डित हैं, प्रत्येक के आगे एक-एक भिक्षा-पात्र धरा है। उनके पैरों में काष्ठ-पादुकाएं हैं।

तेरहवां मनुष्य एक और है। उसका परिच्छद भी साथियों जैसा है। किन्तु उसकी मुखमुद्रा, अन्तस्तेज और उज्ज्वल दृष्टि उसकी विशेषता प्रकट कर रही है। उसके मुख पर उदारता, दया और विचारशीलता टपक रही है। वह सब से तनिक हटकर पीछे की तरफ बैठा हुआ है और उसका एक हाथ नाव की एक रस्सी पर है। उसकी दृष्टि सागर की चमकीली तरंगित जलराशि से परे किसी गम्भीर विवेचनीय दृश्य को देख रही है। उसकी ठुड्डी उसके कंधे पर धरी है, कभी-कभी वह लम्बी सांस खींचता है। और उसके होंठ फड़क जाते हैं। वह अशोक-राजपुत्र भिक्षु महेन्द्र है।

उसके निकट ही एक और मूर्ति चुपचाप पाषाण-प्रतिमा की भांति बैठी है। उसके वस्त्र भी वैसे ही पूर्व वर्णित हैं। पर उसका रंग नवीन केले के पत्ते के समान है। सिर पर पीत उष्णीष बंधा है। पर उसके बीच उसके घुंघराले और चमकीले बाल चमक रहे हैं। उसके नेत्र शुक्र नक्षत्र की भांति स्वच्छ और चंचल हैं। उसका अरुण अधर और अर्निष्ट सुन्दर मुखमण्डल सुधावर्षा चांद की स्पर्द्धा कर रहा है। वह अपने पीछे क्षण-क्षण पर दूर होती उपत्यका और पर्वत-श्रेणियों को करुण और डबडबाई आंखों से देख रही है। यह आर्या संघमित्रा है।]

एक भिक्षु—स्वामिन्, क्या आप बहुत शोकातुर हैं ?

महेन्द्र—क्यों नहीं, हम जिन वनस्थलियों और दृश्यों को पीछे छोड़ आए

हैं, अब उन्हें देखने की इस जीवन में क्या आशा है। और आज जिन मनुष्यों से मिलने हम जा रहे हैं, उनका हमें कुछ भी परिचय नहीं है। उनमें कौन हमारा सगा है। केवल अन्तरात्मा की एक बलवती आवाज़ से प्रेरित होकर हम वहां जा रहे हैं।

एक भिक्षु—आचार्य मोग्गलिपुत्र तिष्य की आज्ञा के विरुद्ध हममें कौन निषेध कर सकता था। उन्हीं की आज्ञा से ससागरा पृथ्वी के चक्रवर्ती सम्राट् मगधाधिपति प्रियदर्शी महाराज अशोक के पुत्र महाभट्टारक पादीय महेन्द्रकुमार आप और महाराजकुमारी संधमित्रा देवी, राज-संतति, धर्मात्मा और त्यागी काषाय धारण कर सिंहल द्वीप में भिक्षु-वृत्ति ग्रहण कर धर्म-प्रचार के हेतु जा रहे हैं।

आर्या संधमित्रा—(गहरा शवस लेकर) अहा, क्षण-क्षण में ये उपत्यकाएं और पर्वत-श्रेणियां दूर अतिदूर होती जा रही हैं। हमारे ये चिर-परिचित स्थल सदैव के लिए अपरिचित हो रहे हैं, वह पर्वत की रम्य स्थली, जहां हमारा घर था, हम बड़ी हुई और खेती, जहां से अबतक पृथक् नहीं हुई थी और आज जा रही हूँ, सुदूर अज्ञात देश को, जहां से लौटने की कोई आशा ही नहीं है।

दूसरा भिक्षु—(मुस्कराकर) पर जब हम इस प्रकार खिन्न हैं तो हम वहां चल ही क्यों रहे हैं ? अब भी लौटने का समय है।

महेन्द्र—भिक्षुओ, जब मैंने इस यात्रा का संकल्प किया था, तब तुमने क्यों मेरे साथ चलने और भले-बुरे में साथ देने का इतना हठ किया था, ऐसी क्या आपत्ति थी।

तीसरा भिक्षु—(धीरे से) स्वामिन्, हम आपको प्यार करते थे।

चौथा भिक्षु—(हंसकर) वाह, यह खूब जवाब रहा। मैं स्वामी को प्यार करता हूँ, इसलिए उसकी जो आज्ञा होगी; वह मानूँगा। जहां वह जब लिवा जायगा, वहां जाऊँगा ?

पांचवां भिक्षु—(गम्भीरता से) किन्तु मैं समझता हूँ कि मैं उन अपरिचित मनुष्यों को भी प्यार करता हूँ, जो इस असीम समुद्र के

उस पार बसते हैं। वह देखो (शून्य दक्षिण दिशा की ओर उंगली से संकेत करता है।) जो आत्मा के गहन विषयों से अनभिज्ञ हैं, जो तथागत के सिद्धान्तों को नहीं जान पाए हैं, जो दुःख में मग्न संसारी पुरुष हैं, मैं उन्हें प्यार करता हूँ।

छठा भिक्षु—मैं भी उन्हें प्यार करता हूँ। तथागत की आज्ञा है कि उन पर अगाध करुणा करनी चाहिए। मेरा हृदय उनके प्रेम में ओत-प्रोत है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है, कि वे हमें बुला रहे हैं। चिर-काल से बुला रहे हैं।

सातवां भिक्षु—आह, उन्हें हमारी आवश्यकता है। वे भवसागर में डूब रहे हैं। वे तथागत की ज्ञान-गरिमा से अज्ञात हैं, हम उन्हें प्रकाश दिखाने जा रहे हैं।

आठवां भिक्षु—निस्संदेह हमें कठिनाइयों और विपत्तियों का सामना करना पड़ेगा। हमारे पास रक्षा की कोई सामग्री नहीं है। शस्त्र भी नहीं हैं।

महेन्द्र—(धीमे और गम्भीर स्वर में) अहिंसा का महास्त्र हमारे हाथ में है, जो अन्त में सबसे अधिक शक्तिशाली है।

[कुछ देर सब सन्नाटे में आ जाते हैं। बारहों ही मनुष्य सिर झुका लेते हैं।]

संघमित्रा—भाई, क्या मैं अकेली उस द्वीप की समस्त स्त्रियों को श्रेष्ठ धर्म सिखा सकूंगी ?

महेन्द्र—आर्या संघमित्रा, यहां तुम्हारा भाई कौन है ? क्या तथागत ने नहीं कहा है कि सभी सद्धर्मी भिक्षुमात्र हैं ?

संघमित्रा—फिर भी महाभट्टारक पादीय महाराज कुमार.....।

महेन्द्र—भिक्षु न कहीं का महाराज है, न महाराजकुमार।

संघमित्रा—अच्छा भिक्षुश्रेष्ठ, क्या मैं वहां की स्त्रियों के उद्धार में अकेली समर्थ होऊँगी ?

महेन्द्र—क्या तथागत अकेले न थे ? कैसे उन्होंने जम्बूद्वीप में महा धर्म-

क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी । कैसे आधी पृथ्वी उनके चरणों में आ झुकी थी । कैसे महापण्डित महाकाश्यप जैसे ब्राह्मण और मगध-पति बिम्बसार सार्वभौम उनके चरणों में नत हुए थे ।

संघमित्रा—किन्तु भिक्षुवर, मैं अबला स्त्री.....।

महेन्द्र—क्या तथागत की वाणी के प्रकाश से तुम्हारी आत्मा ओतप्रोत नहीं है ?

संघमित्रा—(धीरे से) है तो ।

एक भिक्षु—समुद्र की लहरें चट्टानों से टकरा रही हैं । क्या हम तीर के निकट आ गए हैं ।

दूसरा भिक्षु—हम निरन्तर ग्यारह दिन से चल रहे हैं । अब तो अन्धकार बढ़ता आ रहा है, समुद्र के जल का गहरा रंग हो गया है । किन्तु क्या सत्य ही भूमि निकट है ।

महेन्द्र—हम मार्ग भटक गए हैं, भिक्षुओ । अवश्य ही निकट कोई जल-गर्भस्थ चट्टान है, आप लोग सावधानी से तराणी का संचालन करें ।

[खड़ा होकर चारों ओर देखता है । चट्टान से नाव टकराती है । कुमारी संघमित्रा झोंधे मुंह गिरती है, सब सामग्री अस्त-व्यस्त हो जाती है । नाव एकाएक जल से बाहर निकली चट्टान पर टिक जाती है ।]

महेन्द्र—भय की कोई बात नहीं है भिक्षुओ । आओ, आज रात हम यहीं विश्राम करेंगे ।

[कूदकर भू-स्पर्श करता है । चौवहों साथी उस ऊबड़-खाबड़ सुनसान, क्षुद्र चट्टान पर बिना किसी छांह के फलाहार कर अपनी-अपनी कंथा का तकिया लगा सो जाते हैं ।]

दूसरा दृश्य

स्थान—अनन्त समुद्र

समय—प्रभात

[प्रभात की सुनहरी सूर्य-किरणें अनन्त जल-राशि पर फैल कर रंगबिरंगी शोभा धारण कर रही हैं। आर्या संधमित्रा चट्टान पर चढ़ सुदूर पूर्व की दिशा में आंख गाड़कर एक मन कुछ देख रही है।]

महेन्द्र—(निकट आकर) आर्या संधमित्रा क्या देख रही है ?

संधमित्रा—भिक्षुवर, समुद्र शान्त है, समुद्र की उज्ज्वलराशि पर भगवान् मरीचिमाली की सहस्र किरणों कैसे अनिवंचनीय सौन्दर्य की सृष्टि कर रही हैं। देखो, जलजन्तु जहां-तहां सिर निकाले निःशंक, स्वच्छ वायु में स्वास ले रहे हैं, ये पक्षी धीरे-धीरे मन्द कलरव करते कैसे भले दीख रहे हैं। ये सब नेत्र और कर्णों को सुखद है। परन्तु प्राची दिशा में.....

महेन्द्र—प्राची दिशा में क्या ?

संधमित्रा—जिस पृथ्वी को हमने छोड़ा है, वह उधर ही है। अभी तो ग्यारह ही रातें हमने व्यतीत की हैं पर ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे युग व्यतीत हो गया। हम माता पृथ्वी के दूसरे छोर पर आ गए।

महेन्द्र—पर अभी तो हमें और भी आगे अज्ञात प्रदेश को जाना है।

संधमित्रा—क्या वहां रहकर हम सद्धर्म प्रचार कर सकेंगे ? मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो प्रियजनों की दृष्टियां हमें बुला रही हैं। यह मैं स्पष्ट देख रही हूं। वहां, जहां पृथ्वी और आकाश मिलते दीख रहे हैं।

महेन्द्र—(हंसकर) उस ओर प्राची दिशा में ?

संधमित्रा—भाई, नहीं-नहीं, भिक्षुराज, चलो लौट चलें। घर लौट चलें। सद्धर्म-प्रचार का अभी भी वहां बहुत क्षेत्र है।

महेन्द्र—(आगे बढ़ और कुमारी के मस्तक पर हाथ रखकर—मन्द-शान्त स्वर में) शांतं पापं, आर्या संघमित्रा, शांतं पापं । आर्या, हमने जिस महाव्रत की दीक्षा ली है, उसे प्राण रहते पूर्ण करना हमारा कर्तव्य है । सोचो तो, हम असाधारण व्यक्ति हैं । हमारे पिता चक्रवर्ती सम्राट् हैं । मैं इस महाराज्य का उत्तराधिकारी हूं । परन्तु मैं जहां भिक्षाटन के लिए जा रहा हूं, कदाचित्, वहां का राजा करद की भांति भेंट लेकर मेरे पास आता । परन्तु मैं उस प्रदेश की गली-गली में एक-एक ग्रास अन्न भिक्षा लूंगा और बदले में सद्धर्म का पवित्र रत्न दूंगा ।

[संघमित्रा बैठकर रोने लगती है ।]

संघमित्रा—(रोती हुई) भाई, मेरा हृदय विदीर्ण हो जाएगा ।

महेन्द्र—आर्या संघमित्रा, क्या यह मेरे लिए और तुम्हारे लिए भी अलम्य कीर्ति और सौभाग्य की बात नहीं है ? क्या तथागत को छोड़ और भी किसी सद्धर्मी ने यह किया था ? तथागत की स्पर्धा करने का तो सौभाग्य आर्या संघमित्रा, भूत और भविष्य में हमी दोनों जीवों को प्राप्त होगा । तुम्हें मुझसे भी अधिक । क्योंकि सम्राट् की कन्या होकर भिक्षुणी होना स्त्री-जाति में तुम्हारी समता नहीं रखता ।

संघमित्रा—किन्तु.....

महेन्द्र—आर्या, इस सौभाग्य की अपेक्षा क्या राजवैभव अति प्रिय वस्तु है । सोचो, यह अधम शरीर और अनित्य जीवन जगत् के प्राणियों का कैसा नष्ट हो रहा है । परन्तु हमें इसकी महाप्रतिष्ठा करने का सौभाग्य मिल रहा है । कदाचित् भविष्यकाल में सहस्रों वर्षों तक हम लोगों की स्मृति श्रद्धा और सम्मान-सहित जीवित रहेगी ।

संघमित्रा—हे ज्ञानी, आज से मेरा-आपका सहोदर भ्रातृ सम्बन्ध समाप्त हुआ । मैं आपकी बद्धांजलि शरणागत शिष्या हूं । हे प्रभु, मेरी मानसिक दुर्बलता आप दूर कीजिए ।

[चरणों में लोट जाती है ।]

महेन्द्र—(सिर स्पर्श करके) भगवति, तेरा कल्याण हो । समझ ले कि जो लौकिक एवं दिव्य काम-सुख में आसक्त नहीं, वही धर्मज्ञ भिक्षु संसार का अतिक्रमण कर सम्यक् परिव्राजक हो सकता है । समझ ले कि प्रिय और अप्रिय का त्याग करके जो सर्वत्र अनासक्त, अनाश्रित, तथा संयोजनों से विमुक्त है, वही इस जगत् में सम्यक् परिव्राजक है । समझ ले कि लोभ और आसक्ति को छोड़कर जो वेदन-बन्धन से विरत हो गया है, शंकाओं को पार कर गया है, और जिसके हृदय से तृष्णा का शल्य निकल गया है, वही भिक्षु जगत् में सम्यक् परिव्राजक है । । समझ ले कि जिसके आस्रव क्षीण तथा अहंकार नष्ट हो गया है, जो काम-सुखों को लात मारकर संसार-समुद्र को पार कर गया है, जो दान्त-शान्त और स्थिरात्मा है, वही इस जगत् में सम्यक् परिव्राजक है । समझ ले कि उपाधि को जो निस्तार समझता है, और ग्रहण करने में जो छन्दराग का निरसन करता है, इस जगत् में वही सम्यक् परिव्राजक है । यह मैंने तुझे आज पांच रत्न दिए । उठ कल्याणी, इन रत्नों को संभाल और इनसे आत्मा का शृङ्गार कर ।

संघमित्रा—मैं सम्पन्न हुई, मैं आप्यायित हुई । मैं धन्य हुई । हे गुरु, मैं धर्म की शरण हूं, संघ की शरण हूं, सत्य की शरण हूं ।

महेन्द्र—कल्याण ! कल्याण !

तीसरा दृश्य

स्थान—सिंहल का समुद्र-तट

समय—सन्ध्याकाल

[समुद्र तट की सिकता-भूमि पर घुटने टेककर चौदह भिक्षु यात्री अस्तंगत सूर्य की ओर मुख किए अधोमुख बैठे हैं ।]

महेन्द्र—भिक्षुओ, हम अभीष्ट स्थान पर पहुँच गए हैं । आज से यह तट निर्वाण तट के नाम से पुकारा जाए ।

सब—तथास्तु ।

महेन्द्र—इस अपरिचित भूमि के कण-कण को हमें सद्धर्म से सम्पन्न करना है । भिक्षुओ, इसके लिए हमें मन-वचन-कर्म से दृढ़-संयमी और उद्योगी बनना होगा । भिक्षुओ, क्या तुमने शंकाओं का प्रवाह पार कर लिया है ?

सब—हां प्रभु ।

महेन्द्र—क्या तुमने तृष्णा का शल्य निकाल फेंका है ?

सब—हां प्रभु ।

महेन्द्र—क्या तुमने लोभ-मात्सर्य-क्रोध और निन्दा का सदा के लिए त्याग कर दिया है ?

सब—हां प्रभु ।

महेन्द्र—तो भिक्षुओ, मैं तुम्हें तीन सम्पदाएं देता हूँ—

तुम निर्वाण-पद को जानकर धर्म विवेचन करो; वे तुम्हें शंका-निवारक मार्ग-दर्शक मुनि कहेंगे । तुम संयमी, स्मृतिमान और निर्दोष रहकर जीवन शुद्ध रखो । वे तुम्हें मार्ग-जीवी भिक्षु कहकर सत्कृत करेंगे । तुम कार्य-मन-वचन से संसार के सब लोभों को त्याग दोगे, वे तुम्हें उपशान्त मुनि कहकर तुम्हारी चरण-बन्दना करेंगे । आओ, आगे बढ़ो ।

[सब कुछ दूर रेत में आगे बढ़ते हैं ।]

महेन्द्र—यही मनोरम स्थान है। ताल-तमाल हिन्ताल की सघन छाया से सुशोभित यह वनश्री शान्त-सुखद और मनोरम है। यहीं हमारा विहार स्थापित होगा। देखो, तमाल पत्रों की ओट में अस्तंगत सूर्य की स्वर्ण किरणें हमारा यहां स्वागत कर रही हैं। आर्या संधमित्रा, आगे बढ़ो और इस पवित्र भूमि पर अपना अक्षय बोधिवृक्ष स्थापित करो।

संधमित्रा—(अस्तंगत सूर्य की ओर देखकर) सूर्यदेव, अभी उस चिर परिचित प्रभात में मैं एक अरविन्द कली थी। तुम्हारी स्वर्ण-किरण के सुखद स्पर्श से पुलकित होकर खिल पड़ी। मैं अपनी समस्त सुरभि से खिलकर दिनभर निर्लज्ज की भांति देखती रही, तुम्हारी उर्ध्व गामिनी गति की ओर। और अब तुम जा रहे हो देव, मेरी पूजा की उपेक्षा करके। जाते हो तो जाओ। मैं अपना समस्त सौरभ इस अपरिचित भूमि के रजकण में लुटाने आई हूँ। और अपनी आशा-आस्था और श्रद्धा के प्रतीक इस पवित्र बोधिवृक्ष को वहां आरोपित करती हूँ। साक्षी रही सूर्यदेव, आज के इस पुण्य क्षण की।

[आंचल से बोधिवृक्ष की टहनੀ निकालकर यत्न से भूमि में आरोपित करती है। फिर भूमि पर मस्तक टेककर प्रणाम करती है। अश्रुजल की दो बूंदें बोधि-वृक्ष पर गिरकर उसका प्रथम सिचन करती हैं।]

महेन्द्र—आर्या संधमित्रा, यह क्षणभंगुर शरीर रोगों का घर है। जीवन का अन्त मरण है। कौन मूर्ख इस जरा जीर्ण शरीर से प्रीति जोड़ेगा। यह शरीर हड्डियों का गढ़ है। इसमें बुढ़ापा मृत्यु, अभिमान और डाह के अड्डे बने हैं। रात-दिन यह गर्वीला रूप पीले पत्ते की भांति जीर्ण-शीर्ण हो जाएगा। तुम्हें प्रयाण करना होगा पर पाथेय तेरे पास न होगा तो क्या होगा। इसलिए तू अभी से पाथेय इकट्ठा कर, प्रज्ञा का सहारा ले। मल धो डाल। दोष रहित हो जा और आर्यों का दल्लभ दिव्यपद प्राप्त कर।

संघमित्रा—आर्य, मैं आपकी शरण हूँ ।

महेन्द्र—आर्या, शल्य तुम्हारे शरीर में चुभा है । तुम उससे पीड़ित हो, बैठ जाओ । अप्रमाद और प्रज्ञा के सहारे अपने शरीर में चुभा तीक्ष्ण शल्य निकाल लो ।

संघमित्रा—(घुटनों के बल बैठकर) आर्य, मैं एकान्त चित्त ब्रह्मचर्य पालन करूंगी ।

महेन्द्र—आर्या, यही तुम्हारी सच्ची शुद्धि है ।

संघमित्रा—आर्य, मैं जान गई, अभिमान ईधन है, क्रोध घुआ है, मिथ्या-भाषण भस्म है, जिह्वा श्रुवा है, हृदय ज्योति-स्थान है । आत्मा का दमन करने ही पर पुरुष को अन्तर्ज्योति प्राप्त होती है ।

महेन्द्र—आर्या, यही तुम्हारी सच्ची आत्म-शुद्धि है ।

संघमित्रा—आर्य, अन्तः शुद्धि न दृष्टि से न श्रुति से न ज्ञान से होती है । शीलव्रत पुरुष भी आध्यात्मिक शुद्धि नहीं दिला सकता ।

महेन्द्र—आर्या, यह तुमने सत्य कहा, जब तक सम, विशेष और हीन का भाग बना रहेगा तब तक शुद्धि दुर्लभ है । जो वस्तु उत्पन्न हुई है, वह अनित्य है । इस बात को जो प्रज्ञा के चक्षु से देखता है, उसी की सच्ची चित्त-शुद्धि होती है ।

संघमित्रा—आर्य, मैं यह समझ गई ।

महेन्द्र—आर्या, तुम्हें विमल विरज प्रज्ञाचक्षु प्राप्त हुआ । तुम सम्यक् सम्बुद्ध हुई । भिक्षुओ, आर्या का अभिनन्दन करो ।

इन्द्रियों में संयमी, आचार में उत्कृष्ट ।

शील में प्राधान्य और उपकार में संतुष्ट ।

कथन में सामर्थ्यमय सिद्धान्त में सम्बुद्ध ।

पक्ष निग्रह निपुण सम्यक् वृद्ध आदर युक्त ।

नम्र शुचि निर्दोष नित अभिमान मल से दूर ।

धर्म जिज्ञासा सहित सद् भावना से पूर ।

सहज रुचि से समझता जो सद् वचन का मर्म ।

सद्गुणों से सहज मंडित भिक्षु का यह धर्म ।

[सब भिक्षु आर्या संघमित्रा थेरी और थेर महेन्द्र का अभिनन्दन करते हैं ।]

चौथा दृश्य

स्थान—अनुराधापुर का उपनगर

समय—रात्रि

[कुछ ग्रामीण कृषक और वृद्ध मुखिया लोग परस्पर बात-चीत कर रहे हैं ।]

एक—वे कुल चौदह हैं, एक स्त्री और तेरह पुरुष ।

दूसरा—क्या उनके पास शस्त्र हैं ?

तीसरा—वे कहते हैं, क्षमा हमारा शस्त्र है, और प्रेम हमारी ढाल ।

भूत-दया हमारे धनुष-बाण हैं ।

चौथा—यह तो एकदम अदभुत है । इन शस्त्रों से कैसे वे शत्रुओं को वशवर्ती करते हैं ।

पहला—यही तो मैं कहता हूँ । उन्होंने बहुतों को अपना अनुगत बना लिया है । सभी गांवों के मुखिया और टापू भर के स्त्री-पुरुष आवाल वृद्ध ठठ के ठठ वहाँ जाते हैं । वे सब उनसे डरते नहीं हैं । धनुर्धारी धनुष त्याग कर जाते हैं । खड्गधारी खड्ग त्यागकर, वह उनकी बताई विधि से उन्हें प्रणाम करके उकड़ूँ बैठ उनके आदेश सुनते हैं । वे आदेश अपने घर पर आकर वे पालन करते हैं ।

एक मुखिया—क्या हममें से भी कोई वहां गया है ?

एक ग्रामीण तरुण—मैं गया था दादा । उनमें जो गौर वर्रां का स्वस्थ तरुण है, उसने मुझे वन्धु की भांति हंसकर बैठाया ।

मुखिया—फिर ?

ग्रामीण—उसने मुझसे पूछा—तेरा वैरी कौन है ?

मुखिया—तैने क्या कहा ?

ग्रामीण—मेरे बहुत वैरी हैं, मैंने सबके नाम बता दिए ।

मुखिया—फिर ।

ग्रामीण—उसने कहा—तू इन सबको जीतना चाहता है ?

मैंने कहा— चाहता हूँ । पर वे बहुत सबल हैं ।

मुखिया—फिर ?

ग्रामीण—उसने कहा—तेरा एक और वैरी है, तू उसे जीत ले तो सब को जीत लेगा ।

मुखिया—वह वैरी कौन है ?

ग्रामीण—उसने बताया—तू स्वयं ही अपना सबसे बड़ा वैरी है ।

मुखिया—अरे रे रे, यह कैसी बात ?

ग्रामीण—उसने कहा—तेरे भीतर का वह वैरी तुझे सदा सताता है, जब तू सोता है तो सुख से सोने नहीं देता, खाता है तो खाने नहीं देता, तुझे बदला लेने को उकसाता है । और जब तू उनसे बदला लेने जाता है तो वह छिप जाता है—तेरी पराजय होती है, तू दुःखी होता है ।

मुखिया—पर वह वैरी...

ग्रामीण—उसने कहा—तू ही अपना सबसे बड़ा वैरी है । द्वेष और ईर्ष्या तेरे मन में हैं । उन्हें त्याग दे । तू अपने वैरी पर प्यार कर, उन्हें अपने ही समान जान, जैसे तू अपने से नहीं डरता, उनसे भी मत डर । शस्त्रहीन होकर उनके पास जा । और कह कि मैं तुम्हें प्यार करने आया हूँ ।

मुखिया—यह तो अद्भुत बात है । सो तू गया ?

ग्रामीण—मैं गया ।

मुखिया—शस्त्र ले गया था ।

ग्रामीण—सब छोड़ गया था ।

मुखिया—उन्होंने तुझे बांधा नहीं, तेरा वध नहीं किया ।

ग्रामीण—मैं वहां निरस्त्र गया, तो उन्होंने मुझे पकड़ लिया । मैंने कहा—मित्रो, मैं तुम्हें प्यार करने आया हूँ । क्षमा हमारा शस्त्र है, प्रेम हमारी ढाल और भूत-दया हमारा धनुष-बाण । ये शस्त्र मुझे देकर हमारे नए गुरु ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है । अब मैं तुम्हारे अधीन हूँ ।

मुखिया—उन्होंने इस पर क्या कहा ?

ग्रामीण—एक ने कहा—इसे अब छोड़ो मत, मार डालो । पुराना वैरी बहुत दिन में हाथ आया है । दूसरे ने कहा—बांधकर अन्धकूप में डाल दो । तीसरे ने कहा—नहीं, मुखिया के पास ले चलो ।

मुखिया—तब ? तब ?

ग्रामीण—तब वह मुझे अपने मुखिया के पास ले गए । सब बात सुनकर उसने पूछा—अब मैं तुझे मरवा दूँ तो तू क्या करेगा ? मैंने कहा—जो मेरा वध करने आएगा उसे क्षमा करूँगा । उसने कहा—और तुझे बांधकर अन्धकूप में डाल दूँ तब क्या करेगा । मैं तुम सबको प्यार करूँगा, जैसा अपने आपको प्यार करता हूँ ।

मुखिया—इस पर मुखिया क्या बोला ?

ग्रामीण—वह चुपचाप सोचता रहा । फिर उसने कहा—तब तो तूने हमें जीत लिया । तू वीर पुरुष है, तुझे हम भी प्यार करते हैं । उसने मुझे साथ बैठकर भोजन कराया । फिर वे सब मेरे साथ मेरे उसी गुरु के पास गए । और वे सब उसके चेले हो गए ।

मुखिया—ये सब तो बड़ी ही अद्भुत बातें हैं । तेरा वह गुरु हमारी कुल-देवी को मानता है ।

ग्रामीण—नहीं मानता ।

मुखिया—क्या वह नाग-देवता की पूजा करता है ।

ग्रामीण—नहीं करता ।

मुखिया—मृतक आत्माओं को भोजन देता है ?

ग्रामीण—नहीं देता ।

मुखिया—भूत-प्रेतों को बलि देता है ।

ग्रामीण—नहीं देता ।

मुखिया—तो वह क्या करता है ?

ग्रामीण—सब प्राणियों को अपने ही समान समझो । पराए दुःख को अपना दुःख समझो । अपने जीवन को पवित्र बनाओ । लोभ, मोह, काम, क्रोध से वशीभूत न हो, यही कहता है ।

मुखिया—क्या उसका कोई बड़ा गुरु भी है ?

ग्रामीण—वह कहता है—तथागत गुरुओं का गुरु । उसका निर्वाण हो गया है ।

मुखिया—उसकी बातें सुनने योग्य हैं ?

ग्रामीण—बहुत लोग उसकी बातें सुनने जाते हैं । उसके साथी ग्रामों में जाते हैं, रोगियों की चिकित्सा करते हैं ।

मुखिया—क्या वे रोग के मन्त्र जानते हैं ?

ग्रामीण—नहीं, वे उन्हें श्रौषधि देकर चङ्गा करते हैं । बहुत जनों को उन्होंने चङ्गा किया है । भूखों को वह अन्न देते हैं । स्वयं भी वह भिक्षाटन करते हैं । वे मांस नहीं खाते ।

मुखिया—हम भी उसे देखने चलेंगे । सारा ग्राम चले ।

ग्रामीण—स्त्रियां भी चलें । वहां एक स्त्री है ।

मुखिया—स्त्री वहां क्या करती है ?

ग्रामीण—वह हमारे बच्चों को गोद में लेकर खिलाती है । उन्हें प्यार करती है । बहुत स्त्रियां उससे बात करने जाती हैं । वह उन सब को उनकी भलाई की राह बताती है । वह सबको पवित्र जीवन

और परिश्रम का उपदेश देती है ।

मुखिया—तो कल सारा ही ग्राम—स्त्री, पुरुष, बालक सभी उस गुरु की सेवा में चलो ।

[सब स्वीकार करते हैं ।]

पांचवां दृश्य

स्थान—सिंहल का बोधि विहार

समय—अर्द्धरात्रि

[विहार में सर्वत्र सन्नाटा है । भिक्षु और भिक्षुणियां शान्त निद्राग्रस्त हैं । आरामिक एक-दो जग रहे हैं । प्रहरी मुख्य द्वार पर ऊंध रहे हैं । समुद्र शान्त है । रात अन्धकारपूर्ण है । अकस्मात् अर्द्धसम्य जाति के लोग विहार पर आक्रमण करते हैं । अग्निबाण आ-आकर विहार की छतों में, छप्परों में फंस जाते हैं । छतों में, छप्परों में आग लग जाती है । प्रहरी और आरामिक आक्रमण-कारियों से संघर्ष करते हैं । शस्त्रों की झनकार, अचानक सोकर उठे हुओं की चीत्कार, प्रहरियों की ललकार का शोर उठता है । सारा विहार धाँय-धाँय जलने लगता है । भिक्षु-भिक्षुणियां आग बुझाने को बौड़-धूप करते हैं । स्थविर महेन्द्र और आर्या संघमित्रा रोगियों, असहायों की रक्षा में व्यस्त होते हैं । अन्ततः आरामिक और प्रहरी आततायियों को भगा देते हैं । केवल एक आततायी पकड़ा जाता है । उसे आरामिक बांधकर स्थविर महेन्द्र के सम्मुख लाते हैं ।]

आरामिक—यह आततायियों का प्रमुख है भन्ते, यही आज्ञाएं दे रहा था, इसी ने विहार में अग्निदाह किया है । इसी ने निर्दोष विहारवासियों का वध किया है ।

महेन्द्र—किन्तु यह तो आहत है ।

आरामिक—हमने कठिन संघर्ष से इसे पकड़ा है भन्ते । अपने ही दोष से यह आहत हुआ है ।

महेन्द्र—तो भद्र, इसे शयनासन दे भैषज्य दे ।

आरामिक—भन्ते, यह दुर्दान्त डाकू है, आततायी है, इसने भीषण अपराध किया है ।

[आर्या संघमित्रा कुछ उपचारिका भिक्षुणियों सहित आती हैं ।]

संघमित्रा—कौन है यह ?

आरामिक—डाकू है, आततायी है भद्रे ।

महेन्द्र—आहत है, पीड़ित है । इसे शयनासन दो, भैषज्य दो आर्ये ।

संघमित्रा—(भिक्षुणी उपचारिकाओं से) आर्याओ, भैषज्य लाओ ।
ग्लान-प्रत्यय लाओ ।

आरामिक—आर्ये, यह आततायी है, डाकू है ।

संघमित्रा—यह आहत है, पीड़ित है ।

उपचारिका—भद्रे, यह भैषज्य है, ग्लान-प्रत्यय है ।

संघमित्रा—बन्धन खोल दो भद्र ।

आरामिक—आर्ये, यह घातक चोट करेगा ।

संघमित्रा—(उपचारिका से) भैषज्य दे, आसन दे ।

उपचारिका—यह आसन है आर्ये, (बिछौना बिछाती है ।)

संघमित्रा—(डाकू के बन्धन खोलती हुई) सुख से सो भद्र ।

डाकू—मैं, मैं, मैं !

संघमित्रा—तू आहत है, पीड़ित है । (लिटाती हुई उपचारिका से)

भैषज्य दे भद्रे, (उपचारिका की सहायता से घाव धोकर औषध लेपकर पट्टी बांधती है ।)

आरामिक—यह घात पाकर भाग जाएगा, या आक्रमण करेगा ।

उपचारिका—यह गर्म दूध है आर्या ।

संघमित्रा—पी भद्र, लाभ होगा । बल मिलेगा ।

[दूध का पात्र उसके होंठों से लगाती है । दूध पिलाकर डाकू से—]

अब तू सो भद्र । निश्चिन्त विश्राम कर । (उपचारिकाओं से) चलो आर्याओ, और भी आहत हैं, और भी पीड़ित हैं । उनकी सुश्रूषा करें, उपचार करें । (जाती है)

[कुछ भिक्षु अस्त-व्यस्त आते हैं ।]

भिक्षु—(महेन्द्र से) भन्ते, आग बुझा दी गई । अब हम क्या करें ?

महेन्द्र—(गम्भीर मुद्रा में) मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा—इन चार मनोवृत्तियों को 'ब्रह्म-विहार' कहते हैं । मैत्रीपूर्ण चित्त से, करुणापूर्ण चित्त से, मुदितापूर्ण चित्त से और उपेक्षापूर्ण चित्त से जो भिक्षु दिशाओं को व्याप्त कर देता है, सर्वत्र, सर्वोत्तम स्वरूप होकर समस्त जगत को अवैर और अद्वेषमय चित्त से भर देता है, वही 'ब्रह्म-प्राप्त' भिक्षु है । जाओ भद्रो, आहतों को भैषज्य दो, पीड़ितों को शयनासन दो, ग्लानि-प्रत्यय दो । वहां आर्या संघमित्रा पीड़ितों की सेवारत हैं ।

भिक्षु—अच्छा भन्ते । (जाते हैं)

आरामिक—अब हम क्या करें भन्ते ?

महेन्द्र—जो आहत हैं, पीड़ित हैं, उन्हें भैषज्य दो । शयनासन दो, ग्लानि-प्रत्यय दो ।

आरामिक—अच्छा स्वामी ! (जाते हैं)

महेन्द्र—(डाकू के सिर पर हाथ रखकर) मैत्री चित्त-विमुक्ति की प्रेम-पूर्वक इच्छा करने से, भावना करने से, अभिवृद्धि करने से, स्थापना करने से, उसका अनुष्ठान करने से, उसे उत्साहपूर्वक अंगीकार करने से, मनुष्य को ग्यारह लाभ होते हैं—वह सुखपूर्वक सोता है, सुख से जागता है, बुरे स्वप्न नहीं देखता है, सबका प्रिय होता है, भूत-पिशाचों का भय नहीं रहता, देवता उसकी रक्षा करते हैं । अग्नि-

विष, हथियार उसपर असर नहीं करते । चित्त का तुरन्त समाधान हो जाता है । मुख की कान्ति अच्छी रहती है, शान्ति से मरता है । और निर्वाण न भी मिले, तो भी मृत्यु के पश्चात् वह ब्रह्मलोक को जाता है । (प्रेमाद्रि स्वर से) सुखपूर्वक सो भद्र, और सुख से जाग ।

[जाते हैं । डाकू की आंखों से आंसू की धारा बह निकलती है ।]

छठा दृश्य

स्थान—सिंहल का बोधि विहार

समय—प्रभात

[मनोरम धूप फैल रही है । सम्मुख [समुद्र उज्ज्वल फेन-राशि पर क्रीड़ा कर रहा है । विहार के जले-अधजले छप्परों के बाँस—राख इधर-उधर बिखर रहे हैं ।]

[दो भिक्षु आते हैं]

एक—वह डाकू भागा नहीं ?

दूसरा—कहां, वह तो तभी से रो रहा है ।

पहला—क्या, पीड़ा से ?

दूसरा—नहीं रे, पश्चात्ताप से ।

पहला—स्वामी की आज्ञा है कि उसे सुरक्षित उसके आवास पर हम पहुंचा दें ।

दूसरा—और यदि वह हमों पर आक्रमण करे ।

पहला—तो हम निरुपाय हैं । हमें तो स्वामी का अनुशासन है—क्रोध को अक्रोध से, प्रहार को क्षमा से जीतो ।

दूसरा—वह सम्मुख अश्वत्थ की छाया में बैठा है ।

[आगे बढ़कर उसके निकट आते हैं ।]

एक भिक्षु—अरे भद्र, तू बन्धन-मुक्त है, तू भागा नहीं ।

डाकू—नहीं भन्ते ।

दूसरा—आश्चर्य है । तुझे किसने रोका भद्र ?

डाकू—मेरे मन ने भन्ते ।

पहला भिक्षु—तू स्वतन्त्र है, स्वेच्छा से जा । तुझे ग्लान-प्रत्यय मिला ।

डाकू—मिल गया भन्ते ।

दूसरा—तो चल भद्र, हम निरापद तुझे तेरे घर पहुंचा दें । तू चल सकता है या हम कन्धे पर ले चलें ।

डाकू—चल सकता हूं भन्ते ।

पहला—तो चल भद्र, स्वामी की आज्ञा है ।

डाकू—मुझे स्वामी की सेवा में ले चलो भन्ते ।

दूसरा—क्यों ? किस लिए ?

डाकू—शरणापन्न होने के लिए ।

दोनों भिक्षु—(देखकर) अरे, स्वामी तो इधर आ रहे हैं ।

[महेन्द्र स्थविर अनेक भिक्षुओं सहित आते हैं । दोनों भिक्षु और डाकू प्रणाम करते हैं ।]

महेन्द्र—(मुस्कराकर डाकू से) कह भद्र, सुख से तो सोया ? सुख से तो जागा ?

डाकू—हां भन्ते ।

महेन्द्र—ग्लान-प्रत्यय मिला ?

डाकू—हां भन्ते ।

महेन्द्र—तो जा भद्र, अपने घर जा । तेरा कल्याण हो । ये दोनों भिक्षु निरापद तुझे तेरे घर पहुंचा देंगे ।

डाकू—भन्ते भगवन्, मैं बद्धांजलि धर्म की शरण होता हूं । मुझे प्रव्रज्या मिले, उपसम्पदा मिले ।

महेन्द्र—भद्र, विचारपूर्वक किए कर्मों का फल बिना भोगे नष्ट नहीं होता । इस लोक में या परलोक में । यह तूने समझ लिया भद्र ।

डाकू—समझ लिया भन्ते ।

महेन्द्र—इन कर्मों को जाने बिना दुःख नष्ट नहीं होता । यह भी तू जान ।

डाकू—जान गया भन्ते ।

महेन्द्र—लोभ से, द्वेष से और मोह से विमुक्त होकर सचेत अन्तःकरण के द्वारा मैत्रीयुक्त चित्त से, करुणायुक्त चित्त से, मुदितायुक्त चित्त से, और उपेक्षायुक्त चित्त से, जो चारों दिशाओं को अभिव्याप्त कर देता है, वह अखिल जगत को अवैर-द्वेष-रहित और मैत्री सहगत चित्त से अभिव्याप्त करता है ।

डाकू—समझ गया भन्ते ।

महेन्द्र—तो यह भी समझ गया कि पूर्व में इन भावनाओं के न करने से तेरा चित्त संकुचित था, इस मैत्री भावना से, करुणा भावना से, मुदिता भावना से, उपेक्षा भावना से—वह असीम और अनन्त हो गया है ।

डाकू—समझ गया भन्ते । समझ गया ।

महेन्द्र—तो भद्र, जो मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा चित्त विमुक्ति की भावना करता है, उसके हाथ से पापकर्म नहीं हो सकता । जो पाप नहीं करेगा, उसे दुःख क्यों होगा ?

डाकू—(आनन्द के आसू बहाता हुआ) नहीं होगा भगवन्, नहीं होगा । अहा, मैं सुखी हुआ । दुःख से मेरा परित्राण हुआ । अहो सुख, अहो सुख, अहो सुख ।

महेन्द्र—तो बैठ भद्र, तुझे विमल-विरज ज्ञान-चक्षु मिला । मैं तुझे उप-सम्पदा देता हूँ, प्रव्रज्या देता हूँ ।

[डाकू उकड़ूं बैठता है । भिक्षुराज पवित्र जल मस्तक पर

छिड़ककर कहता है—बुद्धं शरणं गच्छामि । संघं शरणं गच्छामि ।
सत्यं शरणं गच्छामि ।]

[डाकू तीनों वाक्य धीरे-धीरे उच्चारण करता है ।]

जा भद्र, आज से तेरा नाम धर्मपाल भिक्षु हुआ । (भिक्षुओं
से) भिक्षुओ ! विमल-विरज-चक्षु भिक्षु धर्मपाल का अभिनन्दन
करो ।

[सब भिक्षु आनन्द ध्वनि कः ।]

सातवां दृश्य

स्थान—अनुराधापुर का राजप्रासाद ।

समय—प्रभात

[अनुराधापुर के महाराज तिष्य राजसभा में सभासदों के
बीच सिंहासन पर विराजमान हैं । मन्त्री और सभासद् अपने-
अपने स्थान पर आसनों पर बैठे हैं । चंवरवाहिनियां चंवर डुला
रही हैं । राजसेवक अपने-अपने स्थान पर मुस्तैद हैं ।]

मन्त्री—(हाथ बांधकर) महाराज, सिंहल में कुछ तेजस्वी धर्मात्मा पुरुष
धर्मजय की कामना से आए हैं । उन्होंने समुद्र-तट पर अपना विशाल
भव्य विहार स्थापित किया है । अब वह वन्य प्रदेश विशाल अट्टा-
लिकाओं से परिपूर्ण हो गया है । सिंहल के अनेक जन उनके अनु-
गत हो गए हैं । उनमें से बहुतों ने वहीं अपने ग्राम बसा लिए हैं ।
आस-पास के अर्ध सम्यजनों के भ्रुण्ड के भ्रुण्ड उनके दर्शनों तथा
पुण्य वचनामृत का पान करने वहां जाते हैं । सम्पूर्ण सिंहल द्वीप
में इन धर्म-पुरुषों की कीर्ति फैल रही है ।

राजा—ऐसा ही हमने सुना है। हमने सुना है कि उनका नेता भारत के चक्रवर्ती, ससागरा पृथ्वी के अधिपति धर्मात्मा अशोक का पुत्र है।

मंत्री—केवल वह सौम्य राजकुमार ही नहीं, चक्रवर्ती की प्रिय राज-कुमारी भी काषाय धारण कर धर्म-विजय के लिए इस अमियान में सिंहल में आई है।

राजा—यह उनकी धर्म-विजय कैसी है ?

मंत्री—सेवा और प्रेम ही उनके शस्त्र हैं।

राजा—उनके साथ सेना और राज-परिच्छद कितना है ?

मंत्री—महाराज, राज-संतति-युगल अपने बारह साथियों सहित, नंगे पैर भिक्षा-पात्र लेकर ग्राम-विचरण करते हैं, भैक्ष्य-वृत्ति उन्होंने ग्रहण की है।

राजा—क्या वे इतने दीन-हीन हैं ?

मंत्री—नहीं महाराज, राज-संतति-युगल सोलह राजोचित सुलक्षणों से संपन्न है। राजपुत्र का तेजस्वी गौर वर्ण, सतेज वाणी, बलिष्ठ शरीर, निरालस्य स्वभाव, आनन्दमय और संतोषपूर्ण जीवन तथा दयालु प्रकृति, संसार के सब मनुष्यों से उसे श्रेष्ठ प्रमाणित करती है। इसीसे उसने सहस्रों पुरुषों का हृदय जीत लिया है। वे उसे प्राणों से अधिक प्यार करते हैं। भुण्ड के भुण्ड आबाल, स्त्री-पुरुष इस सुन्दर, सभ्य, विनम्र, तपस्वी का दर्शन करने, उसका धर्म-संदेश और प्रेम-भाषण सुनने नित्य आते हैं। सैकड़ों तरुण सिंहल नर-नारी भिक्षु-जीवन सद्धर्मी बन गए हैं। उनके पुराने अंधविश्वास, उपासनाएं, कुरीतियाँ, बलिदान, देवीपूजा सब दूर हो गए हैं। और वे अपने इस प्यारे गुरु के इतने पक्के अनुगामी बन गए हैं कि अल्पकाल ही में प्रांत भर में इस बात की घर-घर चर्चा हो रही है। वह स्थान टापू भर में विख्यात हो गया है। वहां अब नित्य मेला लगा रहता है।

राजा—अहो, ये राज-संतति सभी स्वार्थों और सुखों को त्यागकर पवित्र और त्याग-पूर्ण जीवन व्यतीत करने में रत है। मंत्रिवर, यदि चक्रवर्ती का यह राजकुमार छत्र धारण कर, गजारूढ़ हो सिंहल आता तो हमें निश्चय ही अनुगत की भांति उसे भेंट देकर उसकी अभ्यर्थना करनी पड़ती। सो अब तुम जाओ। राजकीय रथ, वाहन, परिच्छद साथ ले जाओ। विविध सामग्री से परिपूर्ण सौ स्वर्ण थाल रत्नाभरण, स्वर्ण, कौशेय, सुन्दर शिल्प-वस्तु, बहुमूल्य मदिरा और विविध पक्वान्न लेकर धर्मदूत की अभ्यर्थना करो। और मेरी ओर से प्रार्थना करो कि राजधानी में पधार कर मुझे दर्शनों से कृतार्थ करें।

मंत्री—जो आज्ञा महाराज।

राजा—(अन्य राजपुरुषों से) राजपुरुषो, इस धर्मदूत का नगर राज-महालय में आगमन मनाया जाए। नगर-वीथी, राजपथ सजाए जाएं। नृत्य-वाद्य-संगीत से वातावरण गुंजित हो जाए और दीपावलियों में रात्रि अलोकित हो उठे।

राजसभासद—तथास्तु महाराज !

आठवाँ दृश्य

स्थान—सिंहल का विहार

समय—प्रातःकाल

[अनेक अर्धसभ्य सिंहल के ग्रामीण, कृषक, और अनुराधापुर के भावुक नागरिक विहार में भरे हैं। आने-जाने वालों का तांता लगा है। आर्या संघमित्रा नई सिंहाली शिष्याओं के साथ आगन्तुकों की परिचर्या में प्रसन्न मन संलग्न हैं। भिक्षुराज महेन्द्र शान्त मुद्रा

में आसन पर बैठे हैं। अनेक स्त्री, पुरुष, बालक उन्हें घेरकर उनका वचनानुमत् ले रहे हैं। राजमंत्री राज-संदेश लेकर उपस्थित होता है।]

राजमंत्री—(साष्टांग प्रणाम करके) धर्मदूत प्रसन्न हों। मैं राजमंत्री आपका दास, अनुराधापुर से महाराज तिष्य का संदेश निवेदन करने सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। हमारे महाराज ने अधीनतापूर्वक यह तुच्छ उपानय आपकी सेवा में भेजकर निवेदन किया है कि पवित्र स्वामी अनुचरों-सहित राजमहालय में पधारकर राज-भवन को सुशोभित करें।

[संकेत करता है। संकेत पाकर सौ दास विविध सामग्री से भरे सौ स्वर्णथाल भिक्षुराज के सम्मुख रखते हैं।]

(राजमंत्री करबद्ध हो) स्वामी की सवारी के लिए हमारे महाराज ने छत्र-चंवर सहित सौ हाथी, सौ रथ और दो सौ पादातिक और विविध यान भेजे हैं। आगे जैसी स्वामी की आज्ञा।

महेन्द्र—(मृदु मुस्कान से) मंत्री प्रवर, सिंहल के महाराज तिष्य का कल्याण हो। उनकी अनुकम्पा और उदारता प्रशंसनीय है। परन्तु मंत्रीवर, हम भिक्षुओं के भिक्षापात्र में तो दो मुट्ठी अन्न ही के लिए स्थान है, उसमें यह राज-सामग्री कहां समाएगी। फिर मेरे जैसे भिक्षु को उसकी क्या आवश्यकता है। तुम इन्हें लौटा ले जाओ। महाराज तिष्य से कहना, हम आते हैं।

मंत्री—स्वामी की जैसी आज्ञा हुई। परन्तु राजवाहन, राजकीय रथ !

महेन्द्र—वह सब लौटा ले जाओ मंत्री-प्रवर, हम परिव्राजक भिक्षु तो भिक्षापात्र हाथ में ले, पांव-प्यादे ही विचरण करने के अभ्यस्त हैं। शीघ्र ही राजद्वार पर हमारी भिक्षा होगी।

मंत्री—भगवन्, राजधानी यहां से दूर है। यात्रा की मार्ग में सुविधाएं नहीं हैं।

महेन्द्र—परिव्राजक के लिए दूर-निकट का भेद नहीं मंत्री-प्रवर !

मंत्री—राह में दुर्गम वन हैं, वन में हिंसक जंतु हैं, दस्युओं का भी भय है । आहार और जल का भी नितांत अभाव है ।

महेन्द्र—ऊपर-नीचे, चारों ओर अथवा मध्य में जितने दुःखकारक कर्म हैं, उन्हें त्याग जो विचारपूर्वक बर्तता है, जिसने माया-मोह, मान-क्रोध, और नाम-रूप को नष्ट कर दिया, उस पूर्णत्व-प्राप्त परिव्राजक को न कुछ दुर्गम है, न दस्यु और हिंस्र पशु ही उसकी कुछ हानि कर सकते हैं ।

मंत्री—स्वामिन्, राह में अगम पर्वत-शृंग हैं, जिनमें राह नहीं मिलती । जल और वृक्ष-रहित रेगिस्तान हैं । भयंकर खार और ऊबड़-खाबड़ जंगल हैं । आहार का वहां अत्यन्त अभाव है ।

महेन्द्र—मंत्री-प्रवर ! हमारे प्रत्येक के कन्धे पर आवश्यक सामग्री और हाथ में भिक्षा-पात्र होगा । वह यथेष्ट है ।

मंत्री—तो स्वामी की सेवक को क्या आज्ञा है ?

महेन्द्र—महाराज तिष्य का कल्याण हो । हम शीघ्र ही राजधानी पहुंचेंगे । आप इस सब रथ-अश्व-वाहन और सामग्री को ले जाइए ।

मंत्री—जैसी स्वामी की आज्ञा ।

[जाता है ।]

नवां दृश्य

स्थान—अनुराधापुर का नगर-द्वार

समय—प्रातःकाल

[राजा, राज-परिजनों, अमात्यों और नगर पौरजनों सहित

धर्मव्रत महेन्द्र की अभ्यर्थना के लिए नगर-द्वार पर उपस्थित हैं ।]

राजा—मंत्रीवर, इन राज-अतिथियों को कोई असुविधा न हो । देखो,

आगंतुक राज-अतिथि हैं। वे जम्बूद्वीप के चक्रवर्ती धर्मराज सम्राट् अशोक के पुत्र-पुत्री हैं। उनका स्वागत-सत्कार यथावत् होना चाहिए।

मंत्री—ऐसा ही हुआ है महाराज।

राजा—तो क्या सचमुच इन राज-संतति-युगल के साथ सेना, परिच्छद है ही नहीं?

मंत्री—महाराज, राज-अतिथि धर्मदूत हैं। उन्हें सेना से क्या। उन्होंने तो हमारी भेंट, उपानय और वाहन तक स्वीकार नहीं किए।

राजा—तो क्या उन्हें अपने राजकुल का इतना गर्व है?

मंत्री—नहीं महाराज, यह उनकी धर्म-विनय है।

राजा—तब तो यह अद्भुत है।

[सम्मुख धर्मदूत महेन्द्र और आर्या संधमित्रा अपने बारह भिक्षुओं-सहित आते हैं।]

राजा—(धीरे से) अहा, इस राजकुमार के सिर पर मुकुट भी नहीं, न कानों में कुंडल हैं। पर मुख कांति से देदीप्यमान हो रहा है।

[भिक्षु-मंडली आगे आती है। राजा राजबर्गों-जनों सहित आगे अभ्यर्थना के लिए बढ़ता है।]

महेन्द्र—(दोनों हाथ ऊंचे करके) कल्याण, कल्याण !

[राजा हठात् उनके चरणों में गिर जाता है, सब दर्बारी भी भूमि पर झुक जाते हैं।]

राजा—हे धर्मदूत, मैं आपका अनुराधापुर में स्वागत करता हूँ।

महेन्द्र—स्वस्ति राजन, क्षमा हमारा शस्त्र है और दया हमारी सेवा है। हम इसी राजबल से पृथ्वी की शक्तियों को विजय करते हैं। हम त्याग-तप-दया और सद्भावना से आत्मा का शृंगार करते हैं। हे राजन, हम अपनी ये समस्त विभूतियां आपको देने आए हैं। आप इन्हें ग्रहण कर कृतकृत्य हुईए।

राजा—(बद्धांजलि) और केवल ये विभूतियां ही आपके इस पवित्र जीवन का कारण हैं ।

महेन्द्र—हां राजन् !

राजा—और इन्हीं को पाकर आप भिक्षावृत्ति में सुखी हैं । पैदल यात्रा के कष्टों को सहन करते हैं । तपस्वी जीवन से शरीर को कष्ट देने पर भी प्रफुल्लित हैं ।

महेन्द्र—हां, इन्हीं को पाकर ।

राजा—इन्हीं को पाकर आपने मेरा राज-उपानय, और वाहन, परिच्छद, राज-सत्कार सभी को लौटा दिया ।

महेन्द्र—हां राजन्, इन्हीं को पाकर ।

राजा—हे स्वामी, वे महाविभूतियां मुझे दीजिए, जिससे मैं इस लोक में और परलोक में धन्य होऊं । मैं आपका अनुगत शरणागत हूं ।

[भिक्षुराज, दो कदम आगे बढ़कर]

भिक्षुराज—राजन्, सावधान होकर बैठ जा ।

[राजा घुटनों के बल धरती पर बैठ जाता है । उसका मस्तक भिक्षुराज के चरणों में झुक जाता है ।]

महेन्द्र—(पवित्र जल कमण्डलु से लेकर राजा के मस्तक पर छिड़ककर)

कहो—

बुद्धं सरणं गच्छामि ।

संघं सरणं गच्छामि ।

सत्यं सरणं गच्छामि ।

राजा—

बुद्धं सरणं गच्छामि ।

संघं सरणं गच्छामि ।

सत्यं सरणं गच्छामि ।

महेन्द्र—(राजा के मस्तक पर हाथ रखकर) उठ राजन्, तेरा कल्याण

हो गया । तू प्रियदर्शी सम्राट् का प्यारा सद्धर्मी और तथागत का अनुगामी हो गया । अब हम मिश्रक पर्वत पर विहार करेंगे ।

[वे चार कदम पीछे हटते हैं । और राजा की ओर बिना देखे ही उसी प्रकार लौट जाते हैं । नगर-निवासी और राजप्रमुख निश्चल, अवाक् उन्हें देखते रह जाते हैं ।]

दसवां दृश्य

स्थान—सिंहलद्वीप का मिश्रक पर्वत, जहाँ अम्बत्थल में धर्मदूत महेन्द्र विहार कर रहे हैं ।

समय—प्रातःकाल ।

[सिंहल का राजा तिष्य राज-अमात्य, राजपरिवार और चालीस सदस्य पौरजनों सहित मिश्रक पर्वत पर पहुँचता है ।]

[आमनेर सुमन आता है ।]

महेन्द्र—आमनेर सुमन, यह कैसा कोलाहल है । इस शांत, मनोरम अम्बत्थल में भीड़भाड़ कैसी ?

आमनेर—आर्य, आज ताम्रपर्णी में ज्येष्ठ मूल नक्षत्र है । इसी से सिंहल के राजा तिष्य, राज-परिजन, अमात्यवर्ग और पौरजनों सहित आर्य के दर्शनार्थ आए हैं ।

महेन्द्र—तो भद्र, आम्रवृक्ष के नीचे आसन बिछा ।

आमनेर—जैसी आज्ञा ।

[जाता है । महेन्द्र स्थविर आसन पर प्रसन्नमुद्रा में बैठते हैं । राजा निकट आ, शस्त्र त्याग, परिक्रमा कर समीप ही एक ओर बैठता है । अमात्यवर्ग और राज-परिवार भी यथास्थान

बैठता है । पौरजन चारों ओर घेरकर खड़े होते हैं ।]

राजा—आर्य प्रसन्न तो हैं ? रात्रि सुख से व्यतीत हुई ?

महेन्द्र—राजन्, हम धर्मराज तथागत के धर्मदूत श्रमण हैं । काय-क्लेश से रहित हैं । तेरे ही कल्याण के लिए हम यहां आए हैं ।

राजा—आर्य आए हैं, यह जानकर मेरा राज-परिवार अमात्यवर्ग, और सब नगर-नागर आपकी चरण-वंदना को यहां उपस्थित हैं । इन पर श्रमण का अनुग्रह हो ।

महेन्द्र—राजन्, तू धर्म समझता है, तेरे विमल, विरज चक्षु है । देवानां प्रिय-प्रियदर्शी अशोक धर्मराज के धर्मशासन से मैं तुम्हें देवानांप्रिय तिष्य अट्टम मित्र उद्धोषित करता हूं । यह अशोक राजा का भेजा अभिषेक-भाण्ड है । इसी से इट्टिय स्थविर इसी बैसाख पूर्णिमा को तेरा अभिषेक करेंगे । यह तेरे लिए, तेरे परिवार के लिए हितकर होगा ।

राजा—आर्य, मैं सनाथ हुआ । अब इन सब सिंहलवासियों पर भी अनुग्रह हो ।

महेन्द्र—सुमन श्रामनेर, इन सब नागरिकों को व्यवस्थित बैठाओ ।

[बैठाता है ।]

श्रामनेर—(बैठाकर) आर्य, सब व्यवस्थित हो गए ।

महेन्द्र—स्थविर इट्टिय, इन्हें प्रव्रज्या दो ।

स्थविर इट्टिय—(पवित्र जल का मार्जन करके) कहो सब—

धम्मं सरणं गच्छामि ।

बुद्धं सरणं गच्छामि ।

संघ सरणं गच्छामि ।

[चालीस हजार कंठ एक स्वर से तीनों वचनों को बुहराते हैं ।]

महेन्द्र—सबके हित के लिए, सबके सुख के लिए, अपने कल्याण के लिए, पवित्र जीवन व्यतीत करो । तीन वचनों से तुम श्रावक हुए ।

राजा—आर्य, कुछ और भी अनुग्रह की कामना करता हूँ ।

महेन्द्र—राजन्, जैसे आज देवानांप्रिय प्रियदर्शी का जम्बूद्वीप काषाय से जगमग है, वैसे ही तेरा सिंहलद्वीप भी काषाय से जगमगा रहा है । अब और तू किस अनुग्रह की कामना करता है ?

राजा—आर्य, यहां अतुलादेवी राजभगिनी उपस्थित है । वह पांच सौ कन्याओं और पांच सौ अन्तःपुर की स्त्रियों के साथ प्रव्रज्या लेना चाहती है ।

महेन्द्र—तो आर्या संघमित्रा उन्हें प्रव्रजित करे ।

संघमित्रा—आ महाभागा, धर्मानुशासन में स्त्रियाँ पीछे नहीं रहतीं, यह तथागत का वचन है । सब व्यवस्थित होकर बैठो ।

[सब बैठती हैं । आर्या संघमित्रा पवित्र जल का मार्जन करके तीन वचनों से प्रव्रज्या देती है ।]

राजा—आर्य, अभी एक अनुग्रह और शेष है । मेरा यह भांजा अरिष्ठ है । यह अपने पांच सौ मनुष्यों के साथ प्रव्रजित होना चाहता है ।

महेन्द्र—श्रेय तो जितना हो वही उत्तम । बैठ अरिष्ठ, तुझे और तेरे मनुष्यों को मैं प्रव्रज्या देता हूँ ।

[पवित्र जल का मार्जन करके तीन वचनों से प्रव्रज्या देता है ।]

अब तुम सब तीन वचनों से श्रावक हुए ।

राजा—भन्ते आर्य, हम सुप्रतिष्ठित हुए । इस लोक में भी और परलोक में भी ।

महेन्द्र—देवानां प्रिय तिष्य अट्ट-मित्र, अब मैं तेरा और क्या प्रिय करूँ ?

राजा—भगवन, अब यहीं—अनुराधापुर में संघ सहित वर्षावास करें ।

महेन्द्र—ऐसा ही हो ।

राजा—किन्तु यह स्थान राजधानी से दूर है । नन्दन वन में अच्छा रहेगा ।

महेन्द्र—वह नगर के अति निकट है, इसलिए अनुकूल नहीं है ।

राजा—तब महामेघ-वन नगर से न बहुत दूर है, न निकट । वह छाया-जल से युक्त रमणीक स्थल है । आर्य वहीं वर्षावास करें ।

महेन्द्र—हां, वह उद्यान यतियों के अनुकूल है ।

राजा—क्या संघ आराम ग्रहण कर सकता है ?

महेन्द्र—हां, सम्यक् सम्बुद्ध के सुन्दर धर्म, बुद्धवाक्य, तदनुसार आचरण और निर्वाण के लिए मैं स्वीकार करता हूं ।

राजा—प्रसाद हुआ । भिक्षु-संघ के लिए महाविहार और आर्या संघ-मित्रा के लिए पृथक् 'उपासिका विहार' बनाने की अनुमति प्रदान हो ।

महेन्द्र—अनुमति देता हूं ।

राजा—अनुगृहीत हुआ । (परिक्रमा और अभिवादन कर जाता है ।)

[प्रचंड जय-जयकार करते हुए पौरजन भी लौटते हैं ।]

ग्यारहवां दृश्य

स्थान—सिंहल का महामेघ उपवन ।

समय—प्रातःकाल ।

[उपवन ध्वजा, पताका, तोरण से सजाया गया है । महा-श्रमण सुमन तथागत का वंतधातु लेकर आए हैं । वंतधातु, हाथीदांत के पात्र में रखकर स्वर्ण-मंजूषा से ढांप राजकीय छत्र चँवर-सहित हाथी पर राजा अपनी गोद में लिए, अनुराधापुर के राज-मार्ग पर चले आ रहे हैं, उनके पीछे तीस सहस्र सिंहाली, हाथों में पूजा द्रव्य सजाये नंगे पैर चल रहे हैं । सब कोई महामेघ

उपवन में आते हैं। उपवन में महेन्द्र, संघ-स्थविर और संघमित्रा, सहस्रों भिक्षुओं और भिक्षुणियों सहित बैठे हैं। पौर नागरिक और जन-पथ के स्त्री-पुरुष ठौर-ठौर पर भाँभ, वीणा, मृदंग, मुख-भेरी बजा-बजाकर नृत्य कर रहे हैं। सवारी विहार के सिंह-पौर पर आती है। राजा हाथी से उतरकर दंत-धातु का पात्र सिर पर धरे विहार में आता है। स्थविर महेन्द्र संघ सहित खड़े होकर अभिनंदन करते हैं। दंत-धातु का पात्र वेदी पर रख राजा परिक्रमा कर एक ओर बैठ जाता है।]

महेन्द्र—राजन्, सौ हाथी, सौ घोड़े, सौ खच्चरों के रथ, मणिकुंडल पहने सौ हजार कन्याएं—इस एक दंत-धातु के सोलहवें भाग के मूल्य के बराबर भी नहीं हैं। यह तेरे कल्याण के लिए—इस द्वीप के सब जीवों के कल्याण के लिए—आज मैं यहां स्थापित करता हूँ।

राजा—भन्ते भगवन्, जिसमें सब द्वीपवासी धातु का यथावत् पूजन-अर्चन का पुण्य-लाभ कर सकें, वही कीजिए। भन्ते भगवन्, जैसे अन्धकार में दीपक रख देने से आँख वाले रूप देखने में समर्थ होते हैं—ठीक ऐसे ही भन्ते, आपने धर्म को प्रकाशित किया है।

महेन्द्र—राजन्, जैसे कालिमा रहित शुद्ध वस्त्र अच्छी तरह रंग पकड़ता है, उसी भाँति जो कुछ समुदय-धर्म है, निरोध-धर्म है, वह तूने देख लिया। तुझे विमल, विरज धर्म-वक्षु उत्पन्न हुआ। अब तू दृष्ट-धर्म, प्राप्त-धर्म, विहित-धर्म, पर्यवगाढ़-धर्म, संदेह-रहित, वाद-विवाद रहित शांति के शासन से अवगत हो गया। तेरा परम कल्याण हो गया।

राजा—(महेन्द्र की परिक्रमा कर) भन्ते भगवन्, यही कल्याण मेरे द्वीप के प्रत्येक जन को प्राप्त हो। मैं यही कामना करता हूँ। जो धनी थे उन्होंने भी, जो नहीं थे उन्होंने भी, जो जानते थे उन्होंने भी, जो नहीं जानते थे उन्होंने भी धर्म में योग दिया है। भन्ते

भगवन्, आज सारा सिंहल द्वीप तथागत के तीन वचनों से शरणागत है। ये लोग नवकर्म कराते हैं। श्रद्धापूर्वक भिक्षुओं को चीवर—पिण्डपात्र, शयनासन, भेषज्य इत्यादि देते हैं। परिष्कारों से अपने को संस्कृत करते हैं।

महेन्द्र—राजन्, पूर्वकाल में हिमालय के पास एक बड़ा बरगद का वृक्ष था। उस वृक्ष के आश्रय में तीतर, वानर और हाथी तीन मित्र रहते थे। तब एक बार उन मित्रों को ऐसा विचार हुआ कि हममें ज्येष्ठ कौन है, श्रेष्ठ कौन है; जिससे हम उसका सत्कार करें। गौरव मानें, पूजन करें और उसके शासन में रहें।

तब राजन्, तीतर और वानर ने हाथी से पूछा—सौम्य, तुझे कौन-सी पुरानी बात याद है? तब हाथी ने कहा—

जब मैं बच्चा था तब इस बरगद को जांघों के बीच में करके लांघ जाता था। इसकी फुनगी मेरे पेट को छूती थी। सौम्यो, यह पुरानी बात मुझे याद है।

तब तीतर और हाथी ने वानर से पूछा,—‘सौम्य, तुझे कौन-सी बात याद है?’

वानर ने कहा—जब मैं बच्चा था तब भूमि पर बैठकर इस बरगद की फुनगी के अंकुरों को खाता था।

तब हाथी और वानर ने तीतर से पूछा, सौम्य, तुझे कौन-सी पुरानी बात याद है?

तीतर ने कहा—उस जगह बड़ा भारी बरगद था, उसके फल खाकर इस जगह मैंने विष्ठा की, उसी से यह बरगद पैदा हुआ। उस समय सौम्यो, मैं किशोरावस्था में पदार्पण कर चुका था।

तब हाथी और वानर ने तीतर से कहा—तू हममें ज्येष्ठ है, तेरा हम सत्कार करेंगे, तुझ पर गौरव करेंगे—तुझे मानेंगे—पूजेंगे। आज से ही तेरी सीख में रहेंगे।

तब राजन्, तीतर ने वानर और हाथी को पांच शील ग्रहण

कराये । आप भी ग्रहण किये । वह एक दूसरे पर गौरव करते, एक दूसरे की सहायता करते, साथ-साथ जीविकोपार्जन करते हुए विहार करते । जब उन्होंने शरीर त्यागा तो उन्हें सुगति प्राप्त हुई ।

अतः राजन्, जो धर्म को जानकर बुद्ध का सत्कार करता है, उसके लिए इस जन्म में प्रशंसा प्राप्त होती है और परलोक में सुगति । वे तिर्यक् योनि के प्राणी थे—तो भी एक दूसरे पर गौरव करते, पारस्परिक सहायता करते, साथ प्रेम से जीवनयापन करते हुए विहार करते थे । अतः यह क्या शोभा योग्य है कि लोग ऐसे सुविख्यात धर्म-विनय में प्रव्रजित होकर भी एक दूसरे पर गौरव न करें, पारस्परिक सहायता न करें एवं साथ प्रेमपूर्ण जीवन व्यतीत न करें ।

राजा—(बद्धाञ्जलि) भंते भगवन्, यह अवंदनीय है ।

महेन्द्र—

वासनाओं से रहित निर्दोष, शुचि, निष्काम ।

आसक्ति को खण्डित करे—भय रहित कर हृदयाम ।

चित्त को उपशान्त कर जो हो गया अविकार ।

निर्वाण का सन्मार्ग है, यह धर्मपथ का सार ।

[आसन त्याग कर उठता है । समस्त भिक्षु संघ खड़ा हो जाता है । दिव्य समाधि में दंतधातु की स्थापना करता है । बहुत से बाजे बजते हैं । धर्मघोष होता है ।]

महेन्द्र—भिक्षुओ और सद्धर्मियो, यह दंतधातु सब के कल्याण के लिए स्थापित हुआ । राजन् ! तेरी इच्छानुसार मैं आयुष्मान् आमनेर सुमन को यहां का संघपति घोषित करता हूँ ।

[हर्षनाद होता है ।]

[तीसरा अंक समाप्त]

चौथा अंक

पहला दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र का राज महालय । अन्तःपुर का भीतरी कक्ष ।

समय—रात्रि का दूसरा प्रहर ।

[कक्ष प्रकाश से जगमग है । दीपाधारों पर सुगन्धित तेल के दीपक जल रहे हैं । तोरण और द्वारों पर पुष्प-स्तवक सजे हैं । उनकी भीनी महक मादकता उत्पन्न करती है । स्वच्छ स्फटिक के फर्श पर दीपक का आलोक प्रतिबिम्बित हो रहा है । रानी तिष्य-रक्षिता रत्ति के समान स्वर्ण आसन्दो पर उपाधान के सहारे अलस भाव से पौढ़ी है । उसके अंग पर महीन कौशेय और बड़े-बड़े उज्ज्वल सिंहल के मोती सज रहे हैं । शुभ्र चांदनी रात में वह भूत्तिमती शरद् कौमुदी-सी प्रतीत हो रही है । दासियां हाथ बांधे यथास्थान उपस्थित हैं ।]

रानी—(स्वगत) गान्धार में युवराज विवर्धन ने सुव्यवस्था स्थापित की है। इसी से राजधानी में आज उत्सव मनाया जा रहा है। मैंने भी उत्सव में योग दिया है। इतने दिन बाद भी वह पुराना वैर भूला नहीं है। पर मेरा तो इस बार लक्ष्य च्युत हो गया। मेरा बेरी धर्मविवर्धन यहां नहीं है, जिसकी आशा मैं यहां आई थी। सम्राट् ने उसे गान्धार भेज दिया है। वह जहां भी रहे मेरी आंखों का शूल है। उसके अरविन्द से नेत्र कितने कमनीय हैं। पर उन्हीं से उसने मुझे विष-दृष्टि से देखा। तो वे नेत्र अब नष्ट हों। यह मेरा आदेश है। साम्राज्ञी का आदेश है। मैंने उससे प्रणय-निवेदन किया था—क्यों न करूं भला। मेरे इस तारुण्य का मूल्य क्या सम्राट् का जरा-जीर्ण शरीर चुकाएगा ? मैंने तो उन्हें वरा नहीं। साम्राज्य की लिप्सा ने मेरी बलि दी। नाभकों की भी एक राजकन्या चाहिए—जिससे हिमाचलसीमा में सम्राट् के प्रभाव अक्षुण्ण रहें। इसी से मेरे पिता से उन्होंने मुझे मांगा। यहां मैंने विवर्धन को देखा—मेरे ही समान, नव-वय, सुहास मुद्रा, मनोज नेत्र और प्रफुल्ल दृष्टि। इसीसे मैंने उससे प्रणय-याचना की, जिसकी उसने अवहेलना की। उसने मेरी ओर से आंखें फेर लीं। उसने कहा था कि वह अब मुझे नहीं देखेगा। अतः मैंने भी प्रण किया, कि वह और किसी को भी न देखने पाएगा। उसकी निष्ठुरता मेरे हृत्पट पर अंकित है। (विचारमग्न होती है) रात का प्रथम प्रहर बीत गया। देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी महाराज अभी तक नहीं आए। (कुछ कुटिल हास्य हंसकर) कदाचित् प्रियदर्शी महाराज धर्मघोष में व्यस्त हों अथवा देवी असन्धिमित्रा के सान्निध्य में हों।

[एक बेत्रवती का प्रवेश]

बेत्रवती—देवी प्रसन्न हों। विद्याधरी और गान्धर्वी आई हैं। वे देवी को अपने वीणावादन से प्रसन्न किया चाहती हैं।

रानी—उन्हें आने दे हला।

वेत्रवती—जैसी आज्ञा । (जाती है)

रानी—(चेटी से) आसव दे हज्जे !

चेटी—(कर जोड़कर) जो आज्ञा ।

[जाती है और स्वर्णपात्र में आसव ले आती है ।]

रानी—(आसव पीकर, पात्र एक ओर फेंककर हंसती हुई) ताम्बूल-वाहिनी को भेज दे हज्जे ।

[दासी जाती है, ताम्बूलवाहिनी आती है, ताम्बूल देती है ।

गान्धर्वी और विद्याधरी आती है]

रानी—वीणा मुझे प्रिय है सखियो, वीणा बजाओ और कामसखा वसन्त का गीत गाओ । ऐसा गाओ प्रियाओ कि वातावरण में विरह की मादकता भर जाए ।

विद्याधरी और गान्धर्वी—जैसी स्वामिनी की आज्ञा ।

[स्वर मिलाकर वीणा बजाती और गाती है ।]

सजनि साजत सिंगार आज ।

बीत्यो जाम-जामिनी, अकथ 'मनोरथनि,
कुंजपथ थकित भई, मनमथ परिहास काज ।

सजनि साजत सिंगार आज ।

पहुँच्यो पछांह चंद, पहुँची न पास पिया,
घात करे रति पति, कुसुम कमान साज ।

सजनि साजत सिंगार आज ।

संग-सुख-रहित बाल, बढ्यो विरह ताप आलि,
लजि है न हिय पिय, विफल सजग सकल साज ।

सजनि साजति सिंगार आज ।

रस में न रिस रुचे, दुलस में न मिस रुचे,
धीरा ही अधीरा भई, चतुर वचन रीझि भाज ।

सजनि साजत सिंगार आज ।

रानी—अहा...धीरा ही अधीरा...आ...आ... (हंसकर) बहुत अच्छा गाया । (दासी से) हला, इन्हें रत्न-भाण्ड दे । गन्ध-माल्य दे । पान दे । पान करो प्रियाओ । और गाओ अब मिलन-गीत, संग नृत्य करो ।

[दासी नबको आसव देती है । पीकर गान्धर्वी नृत्य करती है ।]

लोचन प्रवीन कटि छीन होति छिन छिन ।

गात सुकुमार चारु, होत छवि उजार, छिन छिन ।

मनोज ओज संग, बढ़त चाह-प्रीतम छिन छिन ।

मिलन उमाह में लजान लगी बाल छिन छिन ।

जान लगी लाल लखि चाह लगी छिन छिन ।

गात दुति दीपक-सी सोहति, मोहति मन छिन छिन ।

सिसुताई, तरुनाई नई, सुहात भई छिन छिन ।

केसर रंग मिली ईगुर अरुनाई दिखावत छिन छिन ।

रीभत रिभावत दुरति हगन मुरि मुरि छिन छिन ।

रानी—(कण्ठ से मणि-माल निकालकर) बहुत सुन्दर नृत्य-गान हुआ सखियो—यह लो (माला देती है ।) (दासी से) ला हला, आसव दे ।

[दासी आसव देती है । रानी पीती हैं । गान्धर्वी और विद्याधरी प्रणाम करके जाती हैं ।]

दूसरा दृश्य

स्थान—वही

समय—वही

[वेत्रवती का प्रवेश]

वेत्रवती—देवी प्रसन्न हों। देवानांप्रिय-प्रियदरसी महाराज पधार रहे हैं।

[रानी लड़खड़ाती उठती है। हाथ में पान-पात्र है।]

रानी—(कुछ लड़खड़ाती बोली में) दे.....देवानांप्रिय-प्रियदरसी महाराज की जय हो। आर्य...पुत्र की जय हो। (हंसकर) धर्मघोष अब पूरा हुआ महाराज।

सम्राट्—(कुछ विरक्ति से) देवी को बहुत असुविधा हुई। मुझे विलम्ब हो गया।

रानी—(व्यंग्य से) असुविधा काहे की महाराज, पाटलिपुत्र के राज-महालय में अथवा प्रियदर्शी महाराज के धर्मराज्य में असुविधा कहाँ है। (हंसकर) यह आसन है, विराजिए महाराज।

[दोनों बैठते हैं।]

सम्राट्—(धीरे से) मेरे धर्मराज्य में नहीं—परन्तु देवी के आवास में अवश्य है।

रानी—(लीला से) मेरे आवास में ! क्यों आर्यपुत्र ?

सम्राट्—यहाँ मेरा धर्मराज्य नहीं है। धर्मानुशासन नहीं है।

रानी—यह कैसे महाराज ?

सम्राट्—यहाँ आसव है, वसन्त है, विरह है, मिलन है, संगीत है, सुधा है, सौन्दर्य है, तारुण्य है।

रानी—(हंसकर) सब कुछ है, किन्तु धर्मराज्य नहीं है।

सम्राट्—हां तिष्य, धर्मराज्य नहीं है।

रानी—दृष्टिदोष है आर्यपुत्र !

सम्राट्—कैसा दृष्टिदोष ?

रानी—देवताओं के प्रिय की दृष्टि पुरानी है ।

सम्राट्—और तुम्हारी नवीन !

रानी—हां महाराज, पर यह मेरा दोष नहीं है । वय-प्रभाव है । आर्यपुत्र ने ही इस वार्धक्य में तारुण्य को वरण किया है । तारुण्य और वार्धक्य का मेल कहां है आर्यपुत्र ?

सम्राट्—ओह देवी, केवल यही कथनीय है तुम्हें ।

रानी—और भी महाराज, आप सम्राट् हैं । पृथ्वी के अधीश्वर हैं, सम्पदाओं के स्वामी हैं । आपके अन्तःपुर में फिर ऐश्वर्य-विष क्यों है ?

सम्राट्—देवी संयम से धर्मलाभ होता है । सम्यक् दृष्टि मिलती है ।

रानी—(हंसकर) आर्यपुत्र, यह बात तो असन्धिभिन्ना को प्रिय हो सकती है ।

सम्राट्—देवी को क्यों नहीं ?

रानी—मैं तो समझती हूं, जीवन का श्रेष्ठ भाग तारुण्य है और भोग उसका शृङ्गार है । जीवन और भोग एक दूसरे के लिए ही हैं ।

सम्राट्—किन्तु आत्मा के लिए ? आत्मा की मुक्ति के लिए ?

रानी—यह सब तो मैंने विचारा नहीं महाराज, यह तो मेरा विषय नहीं । धर्म महामात्य का विषय है अथवा आचार्य उपगुप्त का ।

सम्राट्—और देवी का विषय ?

रानी—आर्यपुत्र को मधुदान, आत्मदान, स्नेहदान, आनन्ददान ।

सम्राट्—(हंसकर) इसी से आज नृत्य-पान-सङ्गीत-सजा देख रहा हूं ।

रानी—इसी से आर्यपुत्र ! फिर आज विवर्धन के सम्मान में राजधानी भर में नक्षत्र-दिवस मनाया जा रहा है । यह सब नृत्य-पान तो उसी के लिए ।

सम्राट्—(प्रसन्न मुद्रा में) अहा ! प्रियदर्शन, आयुष्मान् धर्मविवर्धन को देवी इतना मानती हैं ।

रानी—क्यों नहीं, क्या इससे आर्या पद्मावती अप्रसन्न होंगी ?

सम्राट्—प्रसन्न होंगी प्रिये । मेरा धर्मविवर्धन प्रियदर्शन मेरे प्राणों से भी प्रिय है ।

रानी—मुझे भी आर्यपुत्र । प्रियदर्शन को देर से देखा नहीं ।

सम्राट्—देखा चाहती हो देवी ।

रानी—देखा चाहती हूँ ।

सम्राट्—तो मैं सन्देश भेजूंगा । प्रियदर्शन को बुलाऊंगा ।

रानी—यह छोटा-सा राज-काज तो अभी कीजिए महाराज । मैं विलम्ब नहीं सह सकती । अभी प्रियदर्शन धर्मविवर्धन को बुलाने का आदेश लिखिए ।

सम्राट्—अभी !

रानी—यह लेखपट्ट है महाराज ।

सम्राट्—अच्छा । तो लिखो तुम । यह मेरी राजमुद्रा है । इसे छाप दो ।

रानी—जैसी आज्ञा ।

[लेख लिखती है । राजा राजमुद्रा देता है । रानी लेखपट्ट पर मुद्रा से मिट्टी की मुहर करती है ।]

रानी—यह लेखपट्ट तैयार हो गया महाराज ।

सम्राट्—प्रभात में याद रखना, सन्देशवाहक के हाथ भिजवा देना ।

रानी—जैसी आर्यपुत्र की आज्ञा । एक मधुपर्क लीजिए—प्रियदर्शन के मङ्गल के लिए ।

सम्राट्—नहीं प्रिये ! यह हितकर न होगा ।

रानी—सङ्गीत.....

सम्राट्—नहीं, मैं श्रमित हूँ, थकित हूँ । मैं विश्राम करूँगा ।

रानी—तो आर्यपुत्र विश्राम करें । अर्द्धरात्रि व्यतीत हो रही है । शयन का काल है । (दासी से) अरी, महाराज को शयनकक्ष का द्वार दिखा ।

दासी—इधर से महाराज—इधर से ।

[राजा शयनकक्ष में जाते हैं । राजमुद्रा वहीं भूल से रह जाती है । उसे रानी यत्न से वस्त्र में छिपा लेती है । वह भी राजा के साथ जाती है । फिर कुछ देर बाद आकर दूसरा लेखपट्ट लिखकर उस पर राजमुद्रा लगाती है । लेखपट्ट को अपने वक्ष में छिपा—दूसरे को नष्ट कर देती है । एक कुटिल हास्य-रेखा उसके ओठों में छा जाती है ।]

तीसरा दृश्य

स्थान—गांधार का राजनिवास

समय—प्रातःकाल

[कंचुकी आता है ।]

कंचुकी—अरे वासंतक, महाकुमार भट्टारक युवराज से निवेदन कर दे कि राजधानी पाटलिपुत्र से देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी महाराज अशोक धर्मराज का दूत आया है । उसे सत्कारपूर्वक आराम से महाकुमार की सेवा में, उनकी आज्ञा लेकर ले जा । ऐसा यत्न कर कि राजधानी का यह दूत हमारे शिष्टाचार को जान जाए ।

वासन्तक—अरे, हट जाओ, एक ओर हो जाओ ।

कंचुकी—किसलिए, किसलिए ?

वासन्तक—आर्य, प्रत्यंत पूजित महाकुमार भट्टारक युवराज धर्मविवर्धन यहां आ रहे हैं ।

[सामने से कुमार धर्मविवर्धन आते हैं ।]

कंचुकी—(देखकर) अहा, तपाए हुए शरीर पर दूर्वाकुर के समान स्निग्ध सुन्दर नील-मणि कैसी शोभित है । स्वर्ण बलयों से सुशोभित

पृथुल भुज-युग मत्त गज के दन्तों की शोभा धार रहे हैं। अहा, जैसे प्रत्यक्ष ही कुमार स्कंद हों।

[आगे बढ़कर]

प्रत्यंत पूजित भट्टारक युवराज की जय हो।

युवराज—(हंसकर) आर्य, कुशल तो है। आज इतने सवेरे व्यस्त भाव से आप चले आ रहे हैं।

कंचुकी—युवराज, देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी धर्मराज महाराज ने दूत भेजा है। यही प्रिय संदेश निवेदन करने आया हूं।

युवराज—तो आज का प्रभात भाग्यशाली है। उस शुभदर्शी को अभी यहां ले आओ। मैं पितृचरण का कुशल-मंगल जानने को आतुर हो रहा हूं।

कंचुकी—जो आज्ञा युवराज। (पुकारकर) अरे वासंतक, दूत को महाराज कुमार अभी देखा चाहते हैं।

वासंतक—अच्छा आर्य।

[जाता है और दूत को लेकर आता है।]

दूत—प्रत्यन्त पूजित महाकुमार भट्टारक युवराज की जय हो।

युवराज—जल्द प्रिय निवेदन कर भद्र, पितृचरण हमारी सब माताओं सहित कुशल तो है ?

दूत—हां, बुद्धसत्त्व की कृपा से सब भली-भांति प्रसन्न हैं।

युवराज—आयुष्मान् सम्प्रति तो अब सयाना हो गया होगा। बहुत दिन से उसे नहीं देखा। देखने को आखें तरस रही हैं।

दूत—आयुष्मान् सम्प्रति अब राज-काज देखते हैं महाकुमार, राज-अमात्यों के साथ धर्मासन पर विराजते हैं।

युवराज—(प्रसन्न होकर) अच्छा, तो पितृचरण को वह बहुत प्रिय है।

दूत—हां महाराज।

युवराज—तो भद्र, अब तू प्रिय संदेश निवेदन कर।

दूत—महाकुमार, यह लेख है ।

युवराज—उपस्थित कर भद्र ।

[दूत वह लेख देता है । कुमार मुद्रा खोलकर पढ़ते हैं ।
पढ़ते-पढ़ते उनका मुख पानी से भरे हुए बादलों के समान गम्भीर
हो जाता है ।]

युवराज (कंचुकी से) आर्य, दूत को सत्कारपूर्वक शयनासन दो ।
और मैं अभी सेनापति चण्डगिरि तथा आर्य दीपवर्धन को देखा
चाहता हूँ ।

कंचुकी—जैसी युवराज की आज्ञा । (दूत सहित जाता है ।)

[कुमार गम्भीर चिन्तन में मग्न हो जाते हैं ।]

चौथा दृश्य

स्थान—वही

समय—वही

[महाकुमार गम्भीर चिन्तन में मग्न हैं । सेनापति चण्डगिरि
और दीपवर्धन आते हैं ।]

सेनापति—भट्टारक पादीय, प्रत्यंत पूजित महाकुमार की जय हो ।

कुमार—(दीपवर्धन की ओर देखकर) आर्य, अभिवादन करता हूँ ।

(सेनापति से) सेनापति ! वधिक को बुलाओ ।

दीपवर्धन—(भीत चकित होकर) वधिक को किसलिए ?

कुमार—प्रयोजन है सेनापति, जल्दी करो ।

सेनापति—महाराज का अभिप्राय क्या है ?

कुमार—राजाज्ञा है सेनापति ।

दीपवर्धन—कैसी राजाज्ञा ?

कुमार—(वह लेख देकर) यह देखिए ।

दीपवर्धन—(देखकर) शान्तं पापं ! शान्तं पापं !! नहीं-नहीं, यह राजाज्ञा नहीं है । कोई षड्यन्त्र है । (लेख सेनापति को बेता है ।)

कुमार—आर्य, मैं राजमुद्रा से परिचित हूँ । राजाज्ञा तत्काल पालन होनी चाहिए ।

सेनापति—(वह लेख पढ़कर उद्वेग से) मैं विद्रोह करता हूँ । मैं देवताओं के प्रिय का अनुशासन अस्वीकार करता हूँ । (पुकारकर) सैनिको, खड्ग खींच लो । (सहस्रों सैनिक खड्ग कोश से निकाल कर युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं ।)

कुमार—(शांतिपूर्वक) विद्रोह नहीं सेनापति, राजाज्ञा का पालन होना चाहिए ।

सेनापति—नहीं होगा । प्राण रहते कदापि नहीं !!

कुमार—मित्र, हम लोगों ने साथ ही साथ चिरकाल तक राज-सेवा की है । संकट में भी और आनंद में भी हम सहायक रहे हैं । अब भी वैसा ही हो ।

दीपवर्धन—कुमार, यह राजाज्ञा नहीं है ।

कुमार—इसका तुरंत पालन होना चाहिए । आज्ञा देता हूँ सेनापति ।

सेनापति—(खड्ग कुमार के चरणों में फेंककर) तो प्रत्यंत पूजित मह-कुमार अपने ही हाथों मेरा वध करें । मैं राजाज्ञा पालन नहीं करूंगा ।

कुमार—(दुःखित मन से) तब मैं ही आज्ञा दूँ । आर्य कंचुकी अथवा जो कोई भी राज-सेवक यहाँ हो—वधिक को अभी उपस्थित करे ।

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—वही

समय—वही

[कुमार धर्मविवर्धन, सेनापति चण्डगिरि, धर्मपाल दीपवर्धन और अन्य राज-परिषद् के राजपुरुष उपस्थित हैं। सैनिक पंक्ति बद्ध खड़े हैं। बधिक सिर नीचा किए खड़ा है।]

कुमार—आर्य धर्ममहामात्य अब आप राजाज्ञा सबको सुना दें। (पुकार कर) सब कोई सुने—देवताओं के प्रियदर्शी महाराज धर्मराज अशोक की आज्ञा है।

दीपवर्धन—(कंपित स्वर में) आयुष्मान् प्रत्यंत पूजित महाकुमार भट्टारक धर्मविवर्धन को सब अधिकारों से च्युत कर दिया जाय और तप्त शलाकाओं से उसके दोनों नेत्र फोड़ दिए जाएं। (रोता हुआ वह लेख फेंक भूमि पर बैठ जाता है।)

[चारों ओर हाहाकार मच जाता है। सेना में विद्रोह के लक्षण दीखने लगते हैं। सैकड़ों कंठों से 'नहीं-नहीं' 'ऐसा न होने पाएगा' 'हम विद्रोह करेंगे'—'हम धर्मराज अशोक की यह क्रूर आज्ञा नहीं मानेंगे' ध्वनि निकल पड़ती है।]

कुमार—(शांतिपूर्वक) शांत हो जाओ मित्रो, राजाज्ञा अवश्य पालन की जाएगी। अभी मैं ही प्रत्यन्तपति, गांधार का राजपाल हूँ। आप लोग धैर्य से साक्षी रहें कि राजाज्ञा ठीक-ठीक पालन हो रही है। (सेनापति से) यह राजपरिच्छद, खड्ग और राजमुद्रा है सेनापति !

[राज-परिच्छद और खड्ग उतारकर सेनापति को बेते हैं।]

सब कोई सुने। राजाज्ञा पालन के बाद मेरे सब अधिकार सेनापति चण्डगिरि ग्रहण करेंगे। जब तक दूसरी राजाज्ञा राजधानी से न प्राप्त हो। (भूमि पर बैठकर बधिक से) अब तू अपना कार्य कर मित्र।

[अस्त-व्यस्त परिधान सें हाहाकार करती चारुशीला गिरती-पड़ती आती है ।]

चारुशीला—यह क्या हो रहा है ? हा ! हा ! हा ! हा ! तप्त शलाका इन नेत्रों में जो फुल्लारविंद के समान सुन्दर, देवता के समान पवित्र और शरद् कौमुदी के समान शुभ्र हैं । तप्त शलाका !! शांत पांपं, शांत पांपं !! (कुमार के ऊपर पछाड़ खाकर गिर जाती है तथा दोनों हाथों से आँखें ढाँप लेती है ।)

कुमार—प्रिये चारुशीले, विपत्ति में धैर्य, अभ्युदय में क्षमा, और युद्ध में अपलायन—यही महात्माओं का लक्षण है ।

चारुशीला—(हा-हा-करती हुई) तो ऐ वधिक, मेरे नेत्रों में भी तप्त शलाका घुसेड़ दे । हृदय विदीर्ण कर दे, देह को खण्ड-खण्ड कर दे, या जीवित ही जला दे । मैं सब कुछ सहन करूंगी । ।

कुमार— राज-अग्नि-जल प्रभृति भय, संभ्रम कहि आवेग ।
 सुख-दुख-दृष्ट अनिष्ट तैं, तहँ चित-हित उद्वेग ॥
 तहँ चित हित उद्वेग, सोइ नायक निज जन हित ।
 संगर धीर कुलीन, तजत निज गात हेत नित ॥
 पीर हरन भट भीर, विपति धीर गंभीर गुन ।
 जन-जन-जन नीरज नयन, सकल सराहहि गुननि सुन ॥

दीपवर्धन—आकिंचन्य और निरहंकार ही जरा और मृत्यु का नाश करने वाला निर्वाण है । इसी से स्मृतिवान् इसी जन्म में परिनिर्वाण प्राप्त कर लेते हैं । देवी, राजाज्ञा पालन होने दो ।

चारुशीला—तो आर्य, पहले मेरे नेत्रों में तप्त शलाकाएं डालने की आज्ञा दीजिए ।

दीपवर्धन—(रोते हुए) कल्याणी, समय पर महापुरुष ही उत्कर्ष दिखाते हैं । तुम्हारे नेत्र ही अब कुमार के नेत्र होंगे । आर्य कुमार राजाज्ञा को अपने नेत्र दे रहे हैं—तुम कुमार को अपने नेत्र दो ।

कुमार—तो फिर अब विलंब क्यों ? राजाज्ञा में तो विलम्ब मैंने कभी सहन नहीं किया ।

चारुशीला—(पछाड़ खाकर) हाय आर्यपुत्र, यह मैं कैसे देखूंगी !

कुमार—प्रिये, धर्मात्मा राजा ने मुझे प्राण-वध का दण्ड नहीं दिया है ।

आर्य धर्म महामात्य ने ठीक ही कहा—तुम्हारे नेत्रदान से मेरा संसार सजेगा । हम तुम्हारे नेत्रों से धर्म लाभ करेंगे । वधिको !

तुम अपना काम करो । क्या तुम्हारी शलाकाएं तप्त हैं ?

वधिक—(रोते हुए भूमि पर गिरकर) स्वामी कैसे कहें ?

कुमार—मित्रो, अपना कार्य करो ।

[वधिक को तप्त शलाका लेकर कुमार की ओर बढ़ते देख चारु, 'अरे नहीं—नहीं' कहकर मूर्छित होकर गिर पड़ती है । वधिक कुमार के नेत्रों में तप्त शलाका घुसेड़ देते हैं । सब जन हाहाकार करते, रोते-पीटते, वस्त्र फाड़ते उन्मत्त की भांति भागते हैं । केवल कुमार स्थिर निश्चल बैठे रहते हैं । नेत्रों से रक्त की धार बहती है ।]

छठा दृश्य

स्थान—वही

समय—वही

[राजावास को सहस्रों नर-नारियों ने घेर रक्खा है । सब राजपुरुष और जनपद उपस्थित हैं । महाकुमार धर्मविवर्धन और चारुशीला एक वस्त्र धारण किए सबके बीच खड़े हैं ।]

दीपवर्धन—(करुण मुद्रा में) आयुष्मान्, जब तक भैषज्य अपना कार्य

करें, ब्रह्म रोपण हो—तब तक तो राजावास में रहो ।

कुमार—नहीं भन्ते, यह सुकर नहीं है—हमें जाना ही होगा ।

सेनापति—तो आर्यकुमार, राजकोष से यथेष्ट धन ले लो । राज-सेवक ले लो । प्रत्यन्त में जहां रुचि हो रहो ।

कुमार—नहीं सेनापति, यह सुकर नहीं है । राज-परिकर में ले नहीं सकता ।

सेनापति—(पैरों में गिरकर) हम पर अनुग्रह करो कुमार, प्रत्यन्त पूजित कुमार !

[भीड़ में रुदन पूर्वक शोर होता है ।]

भीड़—हम पर अनुग्रह करो—प्रत्यन्त पूजित कुमार । हम तुम्हारे अनुगत हैं । हमारा देय ग्रहण करो ।

कुमार—नहीं—तुम्हारा देय राज ग्रहण करेगा मित्रो ।

सेनापति—कुछ तो अनुग्रह करो कुमार ! मैं तुम्हारा अनुगत मित्र चण्डगिरि अनुनय करता हूँ ।

कुमार—तो मित्र, मुझे मेरी प्रिय वीणा दे दो ।

[सेनापति वीणा देते हैं ।]

कुमार—(वीणा लेकर) चलो शीले, चलो प्रिये, हम चलें । (पुकारकर) मित्रो, तुम्हारा कल्याण हो । अन्धे को राह दो भाइयो, अंधे को राह दो । चलो प्रिये चारुशीले ।

चारु—चलिए आर्यपुत्र !

दीपवर्धन—(हाहाकार करते हुए) हा—हा—हा—हा—अरे, आज पृथ्वी डगमग क्यों नहीं होती । समुद्र पृथ्वी को क्यों नहीं डुबो देते । भूधर धरती में क्यों नहीं धंस जाते । आकाश क्यों नहीं फट पड़ता । आज निष्पाप राजकुमार, प्रत्यन्त पूजित महाभट्टारक प्रियदर्शन धर्म-विवर्धन नेत्रदान कर जा रहा है । उसके साथ छाया की भांति राजकूल-वधू, कसम-कोमला चारुशीला पांव पयादे जा रही है ।

हाय रे विधाता, हाय रे अदृश्य ! (मूर्छित होकर गिर जाता है ।)

कुमार—(चारुशीला का हाथ पकड़कर बड़ता हुआ ।) हट जाओ भाइयो, राह से हट जाओ । अंधे को राह दो भाइयो, अंधे को राह दो ।

[जाते हैं । रोते हुए हजारों स्त्री-पुरुष गिरते-पड़ते चलते हैं ।]

सातवां दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र का राजपथ । किसी नगर के निकट एक

शून्य उद्यान

समय—सन्ध्याकाल

[महाकुमार धर्मविवर्धन और उनकी पत्नी चारुशीला]

चारु—अब तो थक गए आर्यपुत्र, अब और नहीं चला जाता । सूर्य भी अस्ताचल को जा रहे हैं । सामने एक उद्यान है । निकट ही कोई नगर है । उद्यान में पुष्करिणी है । जल का आश्रय है । क्यों न आज रात हम यहीं विश्राम करें ।

कुमार—यही ठीक रहेगा प्रिये, किन्तु...

चारु—किन्तु क्या आर्यपुत्र ?

कुमार—(ठंडी सांस लेकर) प्रिये चारुशीले, तूने अपने नेत्र मुझे दान किए, इसीसे तुझे सब राज-भोग त्याग मेरे साथ पांव-पयादे चलना पड़ा । यह कष्ट उठाना पड़ा । यह क्या तेरे उपयुक्त था । तू तो...

[कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है ।]

चारु—मैंने अपने नेत्र आपको दिए, इसीसे क्यों प्रियतम !

कुमार—नहीं तो...

चार—मैं तुम्हें अकेला आने देती और मैं राज निवास में रहती ।

कुमार—यही सुखकर होता । अब मैं कैसे यह सहन करूँ ?

चार—आर्यपुत्र, क्या दासी को इतना ही समझे । (रोती है—वक्ष पर सिर रख कर ।)

कुमार—(ठंडी सांस खींचकर) उफ—यह बात नहीं प्रिये । पर मुझे एक बात का दुःख है ।

चार—किस बात का स्वामिन् ?

कुमार—मैं आयुष्मान् संप्रति को न देख सकूंगा ।

चार—तो प्राणनाथ, मैं भी आयुष्मान् को न देखूंगी ।

कुमार—यह क्यों प्रिये ?

चार—जिस सुख से आप वंचित हैं, उसे मैं कैसे ग्रहण करूंगी भला ।

कुमार—तूने तो अपने नेत्र मुझे दिए हैं ।

चार—हां आर्यपुत्र ।

कुमार—तो इन्हीं से मैं भी आयुष्मान् को देखूंगा । तेरे ही नेत्रों से तो मैं अब जगत की सभी विभूतियों को देखता हूँ ।

[एक शिला-खण्ड पर बैठ जाता है ।]

छा रहा भूलोक में आलोक का विस्तार ।
गहन तम में बद्ध मेरे प्राण निर-आधार ।
प्यार की चितवन तनिक-सी देख लूँ इक बार ।
फिर भले ही प्रलय तक अंधा रहूँ सौ बार ॥

देख भी पाया न मैं, यह अति सुभग संसार ।
तरु-तरुण हैं, कुसुम हैं, रंगीन शोभाधार ।
प्रातः है—मध्याह्न है, और सांध्य का विस्तार ।
रूप की शोभा अनोखी बार देना प्यार ॥

हरितिमामय मेदिनी पर लहलहाते खेत ।
भूमते तरु डालियों पर फूल लोहित श्वेत ।
ललित कलियां प्रस्फुटित-सी और कुछ-कुछ बंद ।
हो अधीर बखेरती हैं मंद मंद सुगंध ॥

है भला कैसी कली सुरभित मृदुल प्रिय रूप ।
अर्ध उन्मीलित विकसती-सी प्रणय अनुरूप ।
दान देकर सौम्य सौरभ का मुझे चुपचाप ।
नित्य गुपचुप हास हँसती आप अपने आप ॥

चंद्रमा की रजत मुद्रा तारिका परिहास ।
शरद शशि की माधुरी, मधु का मधुर परिहास ।
अभ्र की लोहित प्रभा में अस्त होता भानु ।
रस रहस की रात का कैसे करूँ अनुमान ॥

नव वधू की लाज की लाली भरा मुख कंज ।
नत नयन में भीति-प्रीति का लिए हुए असमंज ।
नित्य आती है लजीली ललित ऊषा दिव्य ।
खोल धूँघट पट दिखाती पीत आभा भव्य ॥

मुग्ध मन की कल्पना का यह सुभग संसार ।
रूप का उन्माद भर कर नयन में सौ बार ।
देख तो लूँ तनिक उत्सुक प्राण का अभिसार ।
है भला किस रंग का जीवन सुरा का सार ॥

भूत का संदेश लेकर यह अधीर समीर ।
सुप्त नयनों को परस उत्पन्न करता पीर ।
अब न होगा अंध निशि का क्या कभी अवसान ।
हाय, जीवन कामनाओं का बना इमशान ॥

चकित चितवन हीन मुद्रित ये मेरे दृग आज ।
 तैरते निर्विघ्न तम सर में सधाते काज ।
 प्रियतमा को हिय बसा कर तारिका की ठौर ।
 आप भी देखें न देखन दें प्रिया को और ॥

ये तपस्वी दृग मेरे तप, तप रहे अति घोर ।
 दुःख सहते मूक मौनी, आप अपने चोर ।
 है छिपा जो मर्म उनमें कर उसी का ध्यान ।
 है मुझे अत्यंत अंधी आंख का अभिमान ॥

आठवां दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र का राजमहालय

समय—प्रातःकाल

[सम्राट और राधागुप्त परस्पर बात करते हैं ।]

सम्राट—राधागुप्त, सत्य ने मनुष्य को देवता बनाया । पहले मनुष्य देवता नहीं था, पशु ही था । उसने सत्य को पाया और वह देवता बन गया । परन्तु सहस्रों वर्ष उसे सत्य को पाने में लगे । अपनी इच्छाओं और लालसाओं को लेकर वह चला । अज्ञान ने उसकी राह रोकी, भय ने उसे भयभीत किया । भूलों ने उसे भटकाया, पर वह टटोलता हुआ, रेंगता हुआ, बढ़ा ही चला गया ।

राधागुप्त—महाराज, सत्य का पथ बहुत ही विकट है ।

सम्राट—उसे ठोकरें खानी पड़ीं, रुकना पड़ा, बहुत बार उसकी राह खो गई ।

राधागुप्त—अज्ञानी पुरुष !!

सन्नाट्—उसने ऋषियों से, मुनियों से, पुरोहितों से, संत-महात्माओं से सत्य की राह पूछी । पर सभी ने उसे धोखा दिया ।

राधागुप्त—सभी ने ?

सन्नाट्—वह भूतों-प्रेतों, राक्षसों, शैतानों, यमदूतों के पल्ले पड़ा । राज-सिंहासनों के नीचे उसे झुकना पड़ा, धर्म के आगे श्रद्धा से झुकना पड़ा—पर दासता को छोड़ उसे और कुछ न मिला ।

राधागुप्त—दुर्भाग्य था महाराज ।

सन्नाट्—अंततः उसने विचार का आश्रय लिया । विचारना आरम्भ किया—तो उसने अपने हृदय को अपनी ही अनुभूतियों की भावना से भर लिया । तब कहीं उसे प्रकाशमान, ज्वलंत सत्य मिला ।

राधागुप्त—वह धन्य हुआ ।

सन्नाट्—तब उसी सत्य को उसने अपना मानसिक धन बनाया । वह प्रसन्न हो गया, सुखी हो गया, संपन्न हो गया । सम्य हो गया श्रेष्ठ हो गया । पवित्र हो गया और अंत में देवता हो गया । कौन था वह मनुष्य राधागुप्त ?

राधागुप्त—तथागत बुद्ध ।

सन्नाट्—ठीक है । तथागत ने सत्य की खोज में एक बात सीखी । अपने प्रति सच्चे रहना । जब उसने इसका अभ्यास कर लिया तो उसने अपने मस्तिष्क की प्रयोगशाला में केवल अपने ही लिए संसार की वास्तविकताओं का परीक्षण कर डाला ।

राधागुप्त—केवल अपने ही लिए ?

सन्नाट्—अपने ही लिए राधागुप्त, अपने ही लिए । बस, उसकी बुद्धि पवित्र हो गई । उसे सत्य मिल गया । वह देवता बन गया ।

राधागुप्त—यह चमत्कार था महाराज ।

सन्नाट्—वह देवता बन गया । अपने संसार का स्वामी । उसने पक्षपात, अभिमान, घृणा और भय की भावना को मन से निकाल दिया । झूठ बड़ी-बड़ी पदवियां धारण करके आया—बड़े-बड़े धर्म और

राजनीति के ग्रन्थ लेकर, उसे अपनी राह पर ले चलने के लिए—
पर उसने उनकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखा ।

राधागुप्त—यह सत्य की जय हुई ।

सम्राट्—सत्य ने उसे अतीत की भूलों से बचाया । वह जहाँ गया—
सत्य उसके साथ था । उसके ज्ञान का भण्डार ज्यों-ज्यों बढ़ता गया,
वह संसार को ज्ञान-दान देता गया ।

राधागुप्त—ज्ञान-दान देता गया—

सम्राट्—उसने कहा—सबसे, भाइयो, मैं तुम्हारा हूँ । तुम्हारे लिए
हूँ । मेरी वाणी स्वतन्त्र है । सत्य उसकी राह दिखा रहा है । सब
कुछ खुला है—प्रकट है—छिपा कुछ नहीं है । यही सत्य का
आदेश है—‘कुछ न छिपाओ । उत्तेजना को शांत करो । पक्षपात
छोड़ दो । बुद्धि का दिया जलाओ । उसके प्रकाश में देखो—
खूब देखो !’

राधागुप्त—इसीसे वह मनुष्य से देवता बन गया ।

सम्राट्—तुम अपने विचारों को सच्चाई से कह दो । अपने लिए सोचो ।
तुम स्वयं भी देवता बन जाओगे उपगुप्त । प्रत्येक मनुष्य देवता
बन सकता है । देवता बनकर वह अपना कल्याण कर सकता है ।
दूसरों का कल्याण कर सकता है । देवता बनकर मनुष्य अभाव
और अपराध के संसार से हट जायेगा । वह ऐश्वर्य-संपन्न हो
जाएगा ।

राधागुप्त—सत्य संपन्न है महाराज । इसीसे आपने सत्य का आश्रय
लिया है ।

सम्राट्—जिनके विचार शुद्ध, अकपट, जीवन भय-ईर्ष्या-द्वेष-मत्सर
रहित है, जिन मनुष्यों के मस्तिष्क ज्ञान से और हृदय प्यार से भरे
हुए हैं, वे ही सत्य की राह जा सकते हैं । मैंने इसीसे सत्य की
राह ली है राधागुप्त ।

नवाँ दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र का राजभवन, राजपरिषद्

समय—रात्रि

[राज-परिषद् की गुप्त मंत्रणा चल रही है। राजामात्य एवं राजवर्गीय तोस प्रमुख अधिकारी उपस्थित हैं।]

एक अमात्य—मित्रो, साम्राज्य डगमग कर रहा है। सम्राट् धर्मभावना से प्रेरित हैं। उन्होंने रण-भेरी को धर्म-भेरी और वीर-घोष को धर्म-घोष बना दिया है। इससे सीमांतों के उपद्रव बढ़ते जा रहे हैं। हम सेना रखते भी सुव्यवस्था नहीं कर सकते।

दूसरा अमात्य—सम्राट् राजकोष का सारा ही धन संधारामों के निर्माण में खर्च कर रहे हैं। राजकोष खाली होता जा रहा है। राज्य के अनेक महत्वपूर्ण कार्य रुक गए हैं।

तीसरा अमात्य—राज्य-कोष राज्य के लिए है। सम्राट् को स्वेच्छा से राजस्व को खर्च करने का कोई अधिकार नहीं है।

चौथा अमात्य—भिक्षुओं में बहुत से उद्दण्ड हैं। अनुशासित नहीं हैं। वे आरामों के पड़े-पड़े उत्तम आहार करते हैं। कुछ भी काम नहीं करते। कभी-कभी उनके कारण राजकार्य में विघ्न पड़ता है। वे राज्य-शासन मानते ही नहीं हैं।

पांचवाँ अमात्य—सेना की व्यवस्था भी बिगड़ रही है। न सेना के शस्त्रों पर ध्यान दिया जाता है—न अन्य आवश्यकताओं पर। सैनिकों को कोई कार्य ही नहीं रह गया है। वे पूरे निष्क्रिय हो गए हैं।

पहला अमात्य—मित्रो, क्या सम्राट् का शासन निरंकुश है ?

दूसरा—नहीं, सम्राट् परिषद् की सहायता से राज-काज देखे। यही परम्परा है।

तीसरा—तो परिषद् सम्राट् को साम्राज्य के हित के लिए पदच्युत भी कर सकती है ?

चौथा—क्यों नहीं !

तीसरा—तो परिषद् सम्राट् को पदच्युत करे । मैं पूछता हूँ, इसमें किसी को आपत्ति है ? आपत्ति हो तो कहे । (रुककर) दूसरी बार, तीसरी बार भी पूछता हूँ । सब चुप हैं । तो परिषद् सम्राट् को पदच्युत करती है ।

पहला अमात्य—मैं प्रस्ताव करता हूँ कि परिषद् आयुष्मान् सम्प्रति का युवराज्याभिषेक करे ।

दूसरा—यह समीचीन न होगा । युवराज पद पर कुमार धर्मविवर्धन अभिषिक्त हैं ।

प्रथम—वह प्रत्यन्त में है । हमें अभी युवराज की सहायता की आवश्यकता है । फिर महिषी पद्मावती की भी यही अभिलाषा है । हम आयुष्मान् सम्प्रति को युवराज बनाते हैं ।

सब—तब ऐसा ही हो ।

एक सचिव—राधागुप्त प्रधान अमात्य हैं । वे हमारे बीच नहीं हैं । सम्राट् के साथ है । ऐसी अवस्था में परिषद् राधागुप्त को भी पदच्युत करती है ।

सब—ऐसा ही हो ।

दूसरा सचिव—तो परिषद् सुने । अब युवराज सम्प्रति के नेतृत्व में तीस सदस्यों की यह परिषद् ही साम्राज्य की देख-भाल करेगी । सम्राट् का सब भांति मान किया जाएगा । रक्षा की जायगी ।

एक सचिव—आयुष्मान् सम्प्रति क्या हमसे सहमत होंगे ?

दूसरा—होंगे । राजमहिषी पद्मावती उनकी अभिभावक होंगी ।

सब—तब ठीक है । परिषद् समाप्त हो ।

दसवीं दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र का चतुष्पथ

समय—प्रातःकाल

[दो नागरिक बात करते आते हैं ।]

एक—देखा है तुमने उसे ?

दूसरा—देखा नहीं है भाई, केवल सुना है ।

[तीसरा नागरिक आता है ।]

तीसरा—क्या सुना है भाई ?

पहला—अजी, राजधानी में एक नया भिक्षु आया है ।

तीसरा—तो इसमें आश्चर्य की बात क्या है ? धर्मराज महाराज का इतना बड़ा राज्य है । उसकी राजधानी में तो भिक्षु भी आएं— राजा भी आएंगे ।

पहला—पर मित्र, वह सबसे निराला भिक्षु है ।

दूसरा—निराला कैसा ?

पहला—वह काषायधारी नहीं है । मुंडित नहीं है । उसके साथ एक अर्निछ सुन्दरी बाला है ।

तीसरा—अर्निछ सुन्दरी बाला ?

पहला—वह अन्धा है तो क्या, स्वयं भी शुभदर्शन दर्शनीय पुरुष है ।

तीसरा—तो वह अन्धा है ?

पहला—हां भाई, हां ।

तीसरा—पर उस अर्निछ सुन्दरी बाला की बात कहो मित्र ।

पहला—वाह ! क्या रूप है—क्या शील है !

तीसरा—शील भी !

पहला—क्या स्वर-लहरी है ।

तीसरा—अरे ! स्वर-लहरी !!

पहला—वह पुरुष जब वीणा बजाता है तब वह बाला आलाप लेती है—

उस समय वातावरण में मानो सरस भूकम्प आ जाता है ।

तीसरा—कहां है वह अद्भुत भिखारी मित्र ? मैं भी उसे देखना चाहता हूँ ।

दूसरा—वह नगर में आता ही नहीं । किसी से भिक्षा भी नहीं मांगता ।

केवल प्रहर रात गए गंगातीर पर अपनी संगीत-सुधा बरसाता है ।

तीसरा—विचित्र है । (दूसरे से) चलो भाई—आज हम भी उनके दर्शन करेंगे ।

[सब जाते हैं ।]

ग्यारहवां दृश्य

स्थान—गया का राज शिविर

समय—अपराह्न

[सम्राट् बोधगया की यात्रा पर आए हैं । साथ में राज-परिवार एवं अनेक दास-दासी हैं । मंत्री राधागुप्त साथ हैं । सम्राट् राजप्रासाद में क्लान्ति-भाव से टहल रहे हैं । राधागुप्त स्तब्ध खड़े हैं ।]

सम्राट्—(एकाएक रुककर) आप कहते हैं—देवी तिष्यरक्षिता ने ?

राधागुप्त—हां महाराज !

सम्राट् (मर्माहत होकर) उन्होंने बोधि वृक्ष को कटवा कर जलवा डाला ?

राधागुप्त—हां महाराज !

सम्राट्—तो मैं अभी देवी तिष्यरक्षिता से साक्षात् करना चाहता हूँ ।

राधागुप्त—जैसी आज्ञा ।

[बेत्रवती को संकेत करता है । बेत्रवती जाती है ।]

सम्राट्—राजधानी से दूत आया है। तुमने कहा ?

राधागुप्त—दूत नहीं महाराज, चर !

सम्राट्—क्या समाचार लाया है ?

राधागुप्त—महाराज की अनुपस्थिति से लाभ उठाकर राजधानी में षड्यन्त्र हो रहा है।

सम्राट्—किसके विरुद्ध राधागुप्त ?

राधागुप्त—सम्राट् ही के विरुद्ध।

सम्राट्—मेरे विरुद्ध कैसा षड्यन्त्र राधागुप्त ? क्या मैं उनका अप्रिय कर रहा हूँ ?

राधागुप्त—ऐसा ही वे समझते हैं।

सम्राट्—कौन हैं वे ?

राधागुप्त—राज-परिषद् के सदस्यगण।

सम्राट्—उन सबका एक ही विचार है ?

राधागुप्त—केवल यह दास उनसे पृथक् है।

सम्राट्—उनका क्या कहना है ?

राधागुप्त—उन्होंने आयुष्मान् सम्प्रति को युवराज बनाया है।

सम्राट्—यह तो षड्यन्त्र नहीं है महामात्य। आयुष्मान् तो मुझे भी प्रिय हैं। ऐसा ही है तो मैं विवर्धन से कह दूंगा—वह विरोध नहीं करेगा।

राधागुप्त—महाराज.....

सम्राट्—क्या और भी कुछ है ?

राधागुप्त—उन्होंने सम्राट् को पदच्युत किया है।

सम्राट्—मेरे जीवित रहते ?

राधागुप्त—महाराज.....

[रानी तिष्यरक्षिता आती है।]

रानी—आर्यपुत्र की जय हो। आपने मुझे याद किया ?

सम्राट्—देवी, कुछ मैंने अप्रिय बात सुनी।

रानी—किसके संबंध में ?

सम्राट्—देवी के ही संबंध में ।

रानी—तो वह भूठी है ।

सम्राट्—तब तो ठीक ही है । राधागुप्त ! तुम क्या कहते हो ?

राधागुप्त—महाराज, देवी की आज्ञा से बोधिवृक्ष काटकर जला डाला गया ।

सम्राट्—देवी क्या कहती हैं ?

रानी—सत्य है महाराज ।

सम्राट्—(दुःखी होकर) क्या तुम्हारी आज्ञा से ?

रानी—हां महाराज ।

सम्राट्—ऐसा क्यों किया गया ?

रानी—वह एक अंध-विश्वास, मिथ्याचार और भ्रष्टाचार का केन्द्र था ।

राधागुप्त—महाराज, महिषी ने बोधितीर्थ के विहार को भी बन्द करा दिया है ।

सम्राट्—शांतं पापं ! शांतं पापं !!

रानी—महाराज, वह तो हृदंगों का अड्डा मात्र था । तथागत की आज्ञा के विपरीत था ।

सम्राट्—तथागत की आज्ञा के विपरीत क्यों ?

रानी—महाराज, तथागत ने अपने बताए हुए मार्ग पर चलने के लिए अहिंसा-सत्य-अस्तेय और अपरिग्रह का अनुगामी बनने पर बल दिया था । इन आरामों में इन बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था । मैं यह धर्म-दोष न देख सकी—इसी से ।

सम्राट्—धर्म-दोष कैसा देवी ?

रानी—महाराज, विहारों में रहकर भिक्षु-संघ परिग्रहवान बन रहा है । वह निष्क्रिय होता जा रहा है । यही धर्म-दोष है ।

सम्राट्—किंतु सहवास से अच्छे और बुरे कार्यों के गुणावगुणों का जीवन में सहसा ही समावेश हो जाता है । यह तो तुम भी जानती हो ।

रानी—जानती हूं महाराज !

सम्राट्—तो देवी, मनुष्य प्रज्ञावान प्राणी है। अनुभव से जिस ज्ञान का विकास होता है, वह 'प्रज्ञा' कहाती है। मनुष्य अपनी 'प्रज्ञा-सत्ता' ही से प्रगति की ओर उन्मुख होता है।

रानी—महाराज ने ठीक कहा।

सम्राट्—देवी, यह प्रगति एक मनुष्य के ज्ञान से नहीं होती, एक मनुष्य के अनुभव से उसके समकालीन और आगे आने वाली पीढ़ियां लाभ उठाती हैं। इससे निरंतर मनुष्य की प्रज्ञा समाज के विकास में सहायक होती है—और वह एक मनुष्य की नहीं—समाज की 'प्रज्ञा' कहाती है। इसीसे तथागत ने संघ का विकास किया। इसीसे मैंने विहारों की स्थापना की।

रानी—किंतु महाराज...

सम्राट्—युस्तर अपराध करने पर भी मैं तुम पर रोष नहीं कर सकता— क्योंकि यह तथागत के अहिंसा-तत्त्व का विरोध होगा।

रानी—(व्यंग्य से) तथागत का अहिंसा-तत्त्व कैसा है महाराज ?

सम्राट्—'प्रज्ञा' की बात मैंने तुमसे कही। यदि प्रज्ञा के साथ उसी अनुपात में अहिंसा का विकास न हो तो प्रज्ञा से मनुष्य लाभ नहीं उठा सकता। यदि प्रज्ञा में अहिंसा का समावेश नहीं हुआ तो सबल मनुष्य निर्बल को सताएगा, उसे मौत के घाट उतार देगा। उसका 'प्रज्ञा' के सहारे अपना विकास दूसरे के लिए घातक सिद्ध होगा। उसमें ईर्ष्या तथा प्रतिहिंसा की भावना उमड़ पड़ेगी। अंत में वह घातक कार्य-कलापों में ही अपनी समस्त प्रज्ञा व्यस्त कर डालेगा।

रानी—महाराज, 'प्रज्ञा' भी तो मनुष्य की एक शक्ति ही है।

सम्राट्—है, 'प्रज्ञा' मनुष्य को शक्ति प्रदान करती है; किन्तु 'प्रज्ञा' के साथ अहिंसा भी हो तो वह शक्ति स्थायी एवं जनकल्याणकारी सिद्ध होती है। इसके विपरीत विध्वंसक।

रानी—महाराज.....

सम्राट्—देवी, बड़े-बड़े जघन्य संहारक कुकर्म संसार में इसी कारण होते रहते हैं कि 'प्रज्ञा' को अहिंसा का प्रश्रय नहीं मिलता ।

रानी—तो इससे क्या.....

सम्राट्—बहुत भयानक बात है देवी । छूँछी 'प्रज्ञा' मनुष्य को खा डालती है । 'प्रज्ञा' और 'अहिंसा' का मेल होना ही चाहिए । इनका मेल ही सोने में सुगंध उत्पन्न कर देता है । (कुछ रुककर गंभीर स्वर में) कलिंग के युद्ध को ही लो, विना अहिंसा के मैं केवल प्रज्ञा पर भरोसा रखकर कर्मक्षेत्र में कूदा, तब वह मुझे सत्यमार्ग से विमुख कर असत्य-मार्ग पर ले गई । वहां, जहां हिंसा का नंगा नाच हो रहा था, क्रूरता अट्टहास कर रही थी, मेरे ही इन हाथों से असंख्य निर्दोषों की गर्दन पर खड्ग-प्रहार हुआ । शोणित की नदी बह चली, महा वीभत्स दृश्य उपस्थित हो गया, मेरे हाथ रक्तंजित हो गए, (खेद और पश्चात्ताप से दोनों हाथ मलता हुआ) अब मैं अपनी प्रज्ञा को अहिंसा की चिरसंगिनी बना चुका हूँ, अतः तिष्य, मैं तुम पर क्रोध नहीं कर सकता, तुम पर ही क्यों, किसी पर नहीं कर सकता । क्षमा ही मेरा अमोघ अस्त्र है । अहिंसा मेरा धर्म है । सत्य मेरी राह है । जो भी हो, जैसा भी हो ।

[गंभीर मौन धारण करता है । रानी और राधागुप्त नीरव स्तब्ध खड़े रह जाते हैं ।]

[चौथा अंक समाप्त]

पांचवां अङ्क

पहला दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र, राजसभा का एक कक्ष

समय—प्रातःकाल

[एकांत कक्ष में अमात्य राधागुप्त और सम्राट् की
वार्ता ।]

सम्राट्—क्या कुक्कुटाराम को कोटि अनुदान दे दिया गया ?

राधागुप्त—नहीं दिया गया महाराज !

सम्राट्—क्यों नहीं दिया गया ?

राधागुप्त—युवराज सम्प्रति के विरोध के कारण ।

सम्राट्—आयुष्मान् सम्प्रति मेरे धर्मानुशासन का विरोध करता है ?

राधागुप्त—ऐसा ही है महाराज ।

सम्राट्—ऐसा क्यों है राधागुप्त ? आयुष्मान् सम्प्रति तो बहुत प्रियदर्शन हैं ।

राधागुप्त—ठीक है महाराज ! किन्तु अमात्यों ने उन्हें सलाह दी है कि राजा अशोक को सदा थोड़े ही रहना है, उनका थोड़ा समय शेष है । यह द्रव्य कुक्कुटाराम विहार को भेजकर नष्ट किया जा रहा है । यह उचित नहीं । राज्य-शक्ति कोष पर ही आश्रित है । अतः मना कर देना ही श्रेयस्कर है ।

सम्राट्—इसीसे ?

राधागुप्त—कुमार ने भाण्डागारिक को राज-कोष से दान देने के लिए मना कर दिया । इसीसे सम्राट् की इच्छानुसार दान के लिए धन नहीं मिला ।

सम्राट्—परिषद् ने तो कभी मेरे धर्मानुशासन का विरोध नहीं किया ।

राधागुप्त—महाराज के धर्मानुशासन पर परिषद् का नियन्त्रण नहीं था, इसीसे उन्होंने युवराज को अपने पक्ष में लिया ।

सम्राट्—तो मन्त्रि-परिषद् मेरे धर्मानुशासन के विपरीत मत रखती है ।

राधागुप्त—ऐसा ही है महाराज !

सम्राट्—और तुम राधागुप्त ?

राधागुप्त—मैं महाराज का अनुगत सेवक हूँ ।

सम्राट्—तो राधागुप्त, परिषद् ने देवताओं के प्रिय को सम्राट्पद से च्युत कर दिया ?

राधागुप्त—परिषद् की सहमति से युवराज सम्प्रति ने ।

सम्राट्—तो राधागुप्त, मैं आयुष्मान् को देखना चाहता हूँ । परिषद् से साक्षात्कार करना चाहता हूँ ।

राधागुप्त—जैसी आज्ञा महाराज !

[जाता है ।]

दूसरा दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र का राजमहालय

समय—तीसरा प्रहर

[राजामात्य, परिषद् के सदस्य, सम्राट्, प्रधानामात्य राधा-
गुप्त और युवराज सम्प्रति उपस्थित हैं ।]

सम्राट्—(सम्प्रति से) आयुष्मान्, इस समय राज्य का स्वामी
कौन है ?

युवराज—(विनयावनत) आप ही स्वामी हैं ।

सम्राट्—(आँसू बहाते हुए) मुझ से तो राज्य छिन गया है पुत्र ।

[युवराज नीची दृष्टि किए चुप रह जाते हैं ।]

राधागुप्त—परिषद् कहे । मन्तव्य प्रकट करे ।

एक मन्त्री—देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी धर्मराज अशोक हमारे
स्वामी हैं ।

सम्राट्—तो मेरा धर्मानुशासन कैसे अमान्य हुआ ?

मन्त्री—सम्राट् ही ने सम्राट् की मौखिक आज्ञाओं पर हस्तक्षेप का
परिषद् को अधिकार दिया है ।

सम्राट्—केवल तब, जब कि परिषद् को संदेह हो कि आज्ञा महामन्त्री
की दी हुई है । उसका निर्णय भी मैं ही करता हूँ ।

दूसरा मन्त्री—महाराज की आज्ञा से हम राजकाज में नियुक्त किए
गए हैं ।

सम्राट्—तो फिर ?

मन्त्री—हमें राज्य का हित देखना है महाराज !

सम्राट्—किस प्रकार भद्र ?

मन्त्री—राजस्व का धन राज-कार्य के लिए है ।

सम्राट्—तो भद्र, मेरा धर्मानुशासन तो सर्व-लोक-कल्याण के लिए है ।

मन्त्री—कैसा कल्याण महाराज ?

सम्राट्—इस लोक में शासन द्वारा और उस लोक में स्वर्ग-प्राप्ति द्वारा ।

मन्त्री—तो महाराज, हम भी प्रियदर्शी महाराज के धर्मानुशासन में सहायक हैं ।

सम्राट्—किस प्रकार भद्र, किस प्रकार ?

मन्त्री—राज-वित्त, राज-कोष को राज-हित में उपयोग करके ।

सम्राट्—किन्तु मेरा धर्मानुशासन !

मन्त्री—जो ठीक है, वह चल रहा है । जो ठीक नहीं है, वह राज्य-कार्य में बाधक है ।

सम्राट्—धर्मानुशासन भी ?

मन्त्री—महाराज, तथागत श्रमण ने 'अपरिग्रह' चौथा याम बताया था । उसका समावेश 'सम्यक् आजीव' में है । 'सम्यक् आजीव' में भगवत् बुद्ध ने बताया है कि भिक्षु को तीन चीवर और एक भिक्षा-पात्र अपने पास रखना चाहिए ।

सम्राट्—तू सत्य कहता है भद्र ।

मन्त्री—महाराज, भगवान् बुद्ध ने आज्ञा दी थी कि भिक्षु केवल वर्षा-वास विहार में करे, शेषकाल में पर्यटन करे । धर्म का उपदेश दे ।

सम्राट्—ऐसा ही तथागत का शासन था ।

मन्त्री—तथागत के काल में संघ को क्वचित् ही राज्याश्रय प्राप्त हुआ था । श्रावस्ती के अनाथ-पिण्डक और विशाखा ने आराम निर्माण किए थे; उन्हीं में तथागत ने वर्षावास किए ।

सम्राट्—वे आराम अब पवित्र स्थल हैं ।

मन्त्री—पर महाराज, भगवान् तथागत के काल में किसी भी महाराज ने उनके लिए विहारों का निर्माण नहीं कराया था । तथागत का धर्म राजा-महाराजाओं के लिए नहीं था । साधारण जनता के लिए था । केवल मध्य-वित्त के लोग ही उनके रहने आदि की व्यवस्था करते थे ।

सम्राट्—सुन रहा हूँ भद्र ।

मन्त्री—महाराज, प्रियदर्शी सम्राट् ने यह स्थिति बदल दी है । बौद्ध धर्म को राज्याश्रित कर दिया है ।

सम्राट्—तो इससे क्या हानि हुई भद्र ?

मन्त्री—प्रियदर्शी सम्राट् ने चौरासी हजार विहार बनवा दिए । जहाँ आज लक्षावधि भिक्षु-भिक्षुणियाँ सुख से रहती हैं । उत्तम शयनासन, उत्तम भैषज्य इत्यादि पाती हैं ।

सम्राट्—यह तो धर्म-लाभ है प्रिय ।

मन्त्री—महाराज, इससे भिक्षु-संघ परिग्रहवान् बन गया है । निष्क्रिय होता जा रहा है । उसकी सम्पत्ति तो केवल तीन चीवर और एक भिक्षा-पात्र थी । तथागत के काल में संघ के निवास के लिए एकाध जगह ही होती थी । उस पर स्वामित्व गृहस्थ का होता था । भिक्षु-संघ इन स्थानों में चातुर्मास भर रहता । और शेष आठ मास प्रवास करता हुआ लोगों को उपदेश दिया करता था ।

सम्राट्—ऐसा ही था भद्र ।

मन्त्री—चातुर्मास के अतिरिक्त यदि भिक्षु-संघ कहीं किसी स्थान पर अधिक दिन रह जाता था तो लोग उसकी टीका करते थे । पर अब तो प्रियदर्शी महाराज के बने विहारों में वे स्थायी रूप से निवास करने लगे हैं ।

सम्राट्—इसमें अधर्म हुआ सौम्य ?

मन्त्री—हाँ महाराज, वे आराम से खाते हैं और मस्त पड़े मौज उड़ाते हैं । ध्यान-समाधि की भावना न होने पर भी वे अपने को उच्च समझते हैं । भिक्षुओं का नेतृत्व प्राप्त करने में पारस्परिक स्पर्धा दिखाते हैं । विहारों में अधिकार और गृहस्थ कुलों में सम्मान प्राप्त करने की इच्छा तथा गृहस्थ और भिक्षु मेरी आज्ञा-पालन करें, मेरे ही वश में रहें, ऐसा संकल्प उनका रहता है । अतः इच्छा और अभिमान की वृद्धि का होना स्वाभाविक है । प्रियदर्शी

महाराज को विदित ही है कि लाभ का रास्ता और है और निर्वाण प्राप्त करने की दिशा दूसरी ही है। तथागत बुद्ध ने भी आदेश दिया था कि भिक्षु सत्कार का अभिनन्दन न करे, न उसकी इच्छा करे, निरन्तर विवेक की वृद्धि करता रहे।

सम्राट्—(धीरे से) ऐसा ही है भद्र ! मैंने यथाशक्ति संघों में अनुशासन रखने का प्रयत्न किया है। जहाँ भी अयोग्य भिक्षु दृष्टिगत हुए, उन्हें तुरन्त ही वहिष्कृत कर दिया गया है।

मंत्री—देवताओं के प्रिय, प्रियदर्शी महाराज प्रसन्न हों। भिक्षुओं का निर्वाह अब भिक्षा से नहीं हो सकता। इसी कारण विहारों में आरामिक नियुक्त किए गए हैं। माध्यन्तिक स्थविर ने काश्मीर से संदेश भेजा है कि ये क्रीत आरामिक भिक्षु-संघ के प्रति विद्रोही हो उठे हैं। उनकी संख्या वहाँ इस समय लाखों में है। उनके दमन के लिए भिक्षुओं को समीपस्थ राजाओं की सेना का आश्रय लेना पड़ रहा है।

सम्राट्—दुःखदायी सूचना है भद्र। और कुछ तू कहना चाहता है ?

मंत्री—यह तो मैं पहले ही कह चुका हूँ महाराज कि संधारामों में पड़े-पड़े भिक्षु परिग्रहवान् बन गए हैं। अब वे परिग्रह की रक्षा के लिए झूठ बोलते हुए भी नहीं हिचकते और पास के राजाओं से सहायता लेते हैं। संधारामों को दुर्गों का रूप देना पड़ा है। शस्त्र धारण करने पड़े हैं। अतः सत्य-अहिंसा और अपरिग्रह के यामो का भंग हो गया है धर्मराज ! यह धर्म नहीं है—अधर्म है।

सम्राट्—इसीसे आप सबने मेरा धर्मानुशासन अमान्य किया।

मंत्री—हां प्रियदर्शी महाराज, यही कारण है। पहले यज्ञकर्त्ता, कृषको से बलात् उनके पशु छीन लाते थे—बलपूर्वक उनसे श्रम लेते थे। जनता त्रस्त हो चुकी थी। तथागत की अमृतवाणी जब उसके कानों में पड़ी तो उसने अपनी सम्पूर्ण आस्था से उनके धर्म को अपना लिया—अब उसी जनता को आपके ये श्रमण, संधारामों

के अधिपति होकर, राज्याश्रय से फूलकर, तंग करते हैं। संधारामों के लिए बलात् कर वसूल करते हैं। राज्य के अनुशासन की अवहेलना करते हैं। यह सब कल्याणकारी नहीं है महाराज !

सम्राट्—तो मेरा साम्राज्य सुशासित नहीं है ?

मंत्री—नहीं महाराज। राज्य में चारों ओर छिद्र उत्पन्न हो रहे हैं।

भिक्षु-संघ अब राज-काज में बाधक है। राज्य का सारा धन इन संधारामों में पड़े-पड़े, आराम से उत्तम भोजन करने और राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्र करने के लिए नहीं दिया जा सकता महाराज !

सम्राट्—(ठण्डा श्वास खींचकर) ऐश्वर्य धिगनार्य ! ऐश्वर्य धिगनार्य !!
ऐश्वर्य धिगनार्य !!!

[अश्रु टपकते हैं। सभा मौन रह जाती है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र, गंगा का तट

समय—रात्रि का दूसरा प्रहर

[चांदनी रात में राजप्रासाद के पृष्ठभाग में शुभ्र बालू पर अंधे राजकुमार धर्मविवर्धन और उनकी पत्नी चारुशीला वीणा-वादन और संगीत-साधना में रत हैं।]

राजकुमार—प्रिये, सम्मुख प्रासाद दीख रहा है न ?

शीला—हां आर्यपुत्र।

राजकुमार—वह झरोखा भी, जहां तुम बैठकर गंगा का सतत प्रवाह अपलक देखा करती थीं।

शीला—हां आर्यपुत्र !

राजकुमार—गंगा का सतत प्रवाह वैसा ही आज भी है न ?

शीला—हाँ आर्यपुत्र !

राजकुमार—और चतुर्दशी का चन्द्रमा ?

शीला—वैसा ही है ।

राजकुमार—वह झरोखा ?

शीला—वह तो अन्धकार-पूर्ण है आर्यपुत्र ।

राजकुमार—उसी भांति, जिस भांति मेरी आंखें । आयुष्मान् सम्प्रति भला कहां होगा ?

शीला—सुख से कोमल शैया पर सुखद नींद में मग्न होगा ।

राजकुमार—ऐसा ही हो । और महाराज देवताओं के प्रिय, प्रियदर्शी महाराज ?

शीला—कदाचित्.....

राजकुमार—चितित होंगे । यह अधम दास भी कभी-कभी उन्हें स्मृति में आकर पीड़ित करता होगा ।

शीला—प्रियदर्शी महाराज को अब हम बहिष्कृतों से क्या प्रयोजन है भला ?

राजकुमार—प्रिये शीला, क्या तुम देवताओं के प्रिय महाराज पर असंतुष्ट हो ?

शीला—(आंखों में अश्रु भरकर) नहीं आर्यपुत्र, हमें अपने भाग्य पर संतुष्ट रहना उचित है ।

राजकुमार—तो हम आयुष्मान् को कैसे देखेंगे ?

शीला—अब हम दीन-हीनों को यहां कौन पहचानेगा ! राह-बाट में आयुष्मान् को कभी देख ही लेंगे ।

राजकुमार—प्रिय चारु, मुझे बता देना कि आयुष्मान् की मुख-मुद्रा प्रसन्न तो है !

शीला—(रोती हुई) हाय, आज मुझे यह भी सुनना पड़ा चारु-दर्शन !

कुमार—इतना दुःख किस लिए प्रिये ? जिसका चित्त काम, क्रोध, लोभ,

मोह और मत्सर-इन पाँच आवरणों से मुक्त हो गया है, वही सच-मुच सुखी है ।

शीला—सत्य है आर्यपुत्र ! (आंसू पोंछती है ।)

कुमार—हमें तो देवानांप्रिय सम्राट् धर्मराज के भी दर्शन करने हैं ।

शीला—तो क्या आर्यपुत्र अपने को प्रकट करेंगे ?

कुमार—नहीं, अब मैं ससागरा पृथ्वी के अधिपति धर्मराज अशोक का प्रत्यन्त पूजित राजपुत्र कहाँ हूँ ? भिखारी 'कुणाल' हूँ प्रिये, हमारा यह नया नाम हमारे नए परिधान से अधिक अच्छा आवरण है ।
(वीणा उठाकर) अब शोक से क्या ! तुमने कहा था, स्वच्छ चाँदनी रात है ।

शीला—हां आर्यपुत्र !

कुमार—और गंगा भी मंथर गति से बह रही है ।

शीला—हाँ आर्यपुत्र !

कुमार—तो गाओ प्रिये, गाओ कोई प्रेम-संगीत ।

[वीणा बजाता है । शीला स्वर-ताल से गाती है ।]

नदिया किनारे मोर घरनवा ।

टूट छपर छत-टूटी कुटिया,

टपकत निशिदिन भीजत बिंदिया ।

बाहर बरसत एक छिन आली,

निसिदिन बरसत मोर घरनवा ।

नदिया किनारे मोर घरनवा ।

सोवत प्रियतम स्वप्न सुखद सुख,

मैं बलिहारि उससत उन्मुख ।

घिर-घिर मेघ छए चहुँ दिशि निशि,

तिमिराकुल निशि सून सुपनवा ।

नदिया किनारे मोर घरनवा ।

उमड़ी लहर प्रलय जल मंभा ।
 ढात कगार प्रकंपित भंभा ।
 नदिया पार दीप दुर्गम पथ—
 बहत जात अलि मोर घरनवा ।
 नदिया किनारे मोर घरनवा ।

[सैनिक आता है ।]

सैनिक—कौन हो भाई ?

कुमार—भिखारी हैं, दीन-हीन हैं, गृहहीन हैं, शयनाशन हीन हैं, भोजन-पान हीन हैं । क्या हम से कुछ अपराध हुआ है, भाई ।

सैनिक—नहीं भाई, नहीं, तुम्हारी संगीत-सुधा से प्रेरित हो सम्राट् तुम्हें अभी देखना चाहते हैं । चलो मेरे साथ ।

कुमार—किंतु हम दीन, हीन भिखारी हैं, भाई ।

सैनिक—प्रियदर्शी महाराज धर्मराज के राज्य में कोई दीन-हीन नहीं रह सकता । तुम्हें स्वर्ण मिलेगा । चलो ।

कुमार—भाई, मैं अन्धा आदमी हूं । अपंग हूं ।

सैनिक—तो भद्र, मेरा कन्धा पकड़ । चल । सम्राट् की आज्ञा है ।

कुमार—(शीला से) चलो देवी ।

[शीला का हाथ पकड़कर सिपाही के पीछे चलता है ।]

चौथा दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र का राजमहालय । सम्राट् का शयनकक्ष
समय—अर्द्धरात्रि

[सम्राट् रुग्णशैया पर अर्द्धसुप्तावस्था में बैठे हैं । दो-एक परिचारिकाएं निकट हैं । कक्ष में मध्यम प्रकाश आ रहा है । गंगा की ओर के गवाक्ष खुले हैं । उनसे सामने गंगा की रजतधारा और चारों ओर छिटकी चांदनी की बहार दिखाई पड़ रही है ।]

[प्रहरी वीणाधारी कुणाल और चारुशीला को लेकर आता है, दोनों आकर सम्राट् के सामने नतमस्तक अभिवादन करते हैं ।]

सम्राट्—(कुणाल को ध्यान से देखकर) कौन है भद्र ?

कुणाल—भिखारी हूं देव !

सम्राट्—(चौंककर) यह क्या ? यह तो परिचित-सा कण्ठ-स्वर है ।

तेरा क्या नाम है भद्र ?

कुणाल—कुणाल !

सम्राट्—कहां का है भद्र ?

कुणाल—गान्धार का देव ।

सम्राट्—अहा, वहां तो मेरा धर्मविवर्धन है । ऐसी ही वीणा वह बजाता है । मेरे पुत्र के समान कोई वीणा नहीं बजा सकता, इसका मुझे अभिमान था । तू भी वीणा बजाने में वैसा ही निपुण है भद्र । किन्तु तेरे नेत्र, हन्त ! अभी तू अल्पवयस्क है । कैसे तेरे नेत्र नष्ट हुए भद्र ? करुणा होती है मुझे ।

कुणाल—महाराज, भाग्य-दोष से मैं नेत्रों को गंवा बैठा ।

सम्राट्—फिर वही स्वर । वही कण्ठ-स्वर । इस क्षण तो मुझे पुत्र विवर्धन याद आ रहा है । (चारु को रोती देखकर) तू रोती क्यों है पुत्री ? तुझे क्या दुःख है ? प्रसन्न हो पुत्री ! अपने सम्राट् के कह, वह कैसे तेरा दुःख दूर कर सकता है ?

शीला—(आंसू पोंछकर) देव, प्रियदर्शी के चरणों के दर्शन करने मात्र से ही हमारे सब दुःख दूर हो गए ।

सम्राट्—कैसा कोमल स्वर है । यह भी जैसे सुन चुका हूं, अथवा वृद्ध और रोगी होने से मेरा मस्तिष्क विकृत हो गया है । आयुष्मनो, क्या मेरे विवर्धन ने भी तुम्हारी वीणा और तुम्हारा स्वरालाप सुना है ?

कुणाल—सुना है धर्मराज ।

सम्राट्—तो वह अब यहां आ ही रहा होगा । मैंने उसे बुलाया है, बहुत दिनों से देखा नहीं । तुम्हें देखकर वह प्रसन्न होगा । गुणीजन की सेवा वह जानता है ।

कुणाल—देव, आज्ञा हो तो वीणावादन करें ।

सम्राट्—नहीं, नहीं, वार्त्तालाप करो प्रियदर्शनो ! मुझे तुम बहुत प्रिय लग रहे हो । जैसे तुम्हीं मेरे विवर्धन हो ।

कुणाल—महाराज... (रोते हुए सम्राट् के चरणों में गिर पड़ता है ।)

सम्राट्—अरे, अरे, यह क्या ?...यह क्या ?

कुणाल—देव, पितृचरण प्रसन्न हों ।...

सम्राट्—(उद्वेग से खड़े होते हुए) क्या तू...तू...मेरा वर्धन...

कुणाल—वही कुपुत्र हूं महाराज, दण्ड मैंने भोग लिया, अब क्षमा प्रदान हो ।

सम्राट्—(कांपते हुए) कैसा दण्ड ? कैसी क्षमा ? तो तू प्रियदर्शन वर्द्धन है... (छाती से चिपटा लेते हैं) (अश्रुमोचन करते हुए) प्रियदर्शन...तेरी यह दशा ! मेरी छाती फट क्यों नहीं जाती । सुना वत्स, अपने दुर्भाग्य की हृदय-विदारक कथा सुना ।

कुणाल—कुछ नहीं महाराज ! भाग्य-दोष से ।

सम्राट्—अरे पुत्र, मैंने तुम्हें अपने निकट बुलाया था । तुम्हें देखने को मेरी आंखें तरस रही थीं । देखा भी तो तुम्हें इस रूप में, बोल मेरे

आशास्तम्भ ! तुझे क्या हो गया पुत्र, किसने तेरे सुन्दर नेत्र छीन लिए ? (पुनः छाती से सटा लेता है)

चारुशीला—(आगे बढ़कर) देव, प्रियदर्शी महाराज की आज्ञा से ।

सम्राट्—(चौंककर) मेरी आज्ञा से ! क्या कह रही है पुत्री ?

चारु—महाराज...

कुणाल—(बीच में रोककर) कुछ नहीं महाराज, जो होना था हो गया ।

सम्राट्—पुत्री ! डर मत...कह डाल, जो कुछ तुझे कहना हो कह डाल, मैं सुनने के लिए आतुर हो रहा हूं ।

चारु—महाराज की आज्ञा का आर्यपुत्र ने तत्काल पालन किया ।

सम्राट्—किन्तु कैसी आज्ञा ?

चारु—आज्ञा, आपकी आज्ञा, प्रियदर्शी महाराज की ही आज्ञा पहुँची थी कि कुमार को राज्याधिकारों से च्युत करके उसके नेत्रों में तप्त शलाकाएं घुसेड़ दी जाएं । उसे शीघ्र ही देश से बहिष्कृत कर दिया जाए ।

सम्राट्—हाय...यह मैं क्या सुन रहा हूं... !

[पागल की भाँति सिर पीटकर मूर्छित हो जाता है । अनुचर हाहाकार करते हुए इधर-उधर दौड़ते हैं, उपचारकर्त्ता आते हैं ।]

पांचवां दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र का चतुष्पथ

[दो पुरुष बात करते हुए आते हैं ।]

एक—सुना तुमने, राजकुमार धर्मविवर्धन राजधानी में आए हैं ।

दूसरा—कहां ? 'आते हैं, आते हैं' सुनता हूं, आते कहां हैं ?

पहला—मैं कहता हूँ, आए हैं ।

दूसरा—तो गण-नक्षत्र क्यों नहीं मनाया गया ? नगर के हाट-द्वार क्यों नहीं सजाए गए ?

पहला—पत्थर सजाए जाते (धीरे से) गम्भीर बात है । सुनोगे ?

दूसरा—(धीरे से) कहो, कहो ।

पहला—देवानांप्रिय-प्रियदर्शी महाराज ने कुमार को पदच्युत किया है ।

दूसरा—(आश्चर्य से) पदच्युत किया है ?

पहला—(और भी धीरे से) उनकी आंखें तप्त शलाकाओं से निकलवा ली हैं ।

दूसरा—(कानों पर हाथ धरके) शांतं पापं ! शांतं पापं !! तुम झूठ बोल रहे हो ।

पहला—तुम असम्य हो । गाली देते हो ।

दूसरा—तुम्हारा तो शिरच्छेद होना चाहिए ।

[तीसरा आदमी आता है ।]

तीसरा—क्या बात है भाई ?

पहला—यह अभद्र बकता है ।

दूसरा—यह राजपरिवार की निन्दा करता है ।

पहला—मैंने तो निन्दा नहीं की । कुमार अन्धे और बन्दी होकर आए हैं ।

तीसरा—ऐसा ही तो है ।

दूसरा—तो धर्मराज ने उन पर यह कैसा कोप किया है ?

तीसरा—धर्मराज ने नहीं रे ! नई रानी ने । तिष्यरक्षिता ने ।

दूसरा—शांतं पापं ! शांतं पापं !!

तीसरा—अजी महाराज धर्माशोक तो तभी से मूर्छित पड़े हैं । राजवैद्य उनके उपचार में व्यस्त हैं ।

पहला—कितनी भयानक बात है ? अब क्या होगा ?

तीसरा—राजकाज के सौ भ्रमेले । पहले महाकुमार महेन्द्र को युवराज

बनाया । उन्हें प्रव्रज्या दे, भिक्षु बना सिंहल भेज दिया गया—अब राजकुमार धर्मविवर्धन युवराज हुए तो उनकी यह दशा । दूसरा—तो ये सब काम आयुष्मान् सम्प्रति को सम्राट् बनाने के लिए तो नहीं ?

तीसरा—कौन जाने ? जाऊं भाई—राजवंध की आज्ञा से भैषज्य लेकर महालय में पहुँचूं । राजा रुग्ण हैं ।

[जाता है ।]

छठा दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र राजमहालय । सम्राट् का शयनकक्ष

समय—प्रभात

[सम्राट् रुग्ण शैया पर अर्द्धमूर्छित अवस्था में । राजवंध और अन्य अमात्य उपस्थित हैं ।]

सम्राट्—(कुछ चैतन्य लाभ करके) कहां है पुत्र विवर्धन ।

मंत्री—महाराज ! राजकुमार अशोकाराम में चले गए हैं ।

सम्राट्—पर मैंने तो अभी अच्छी तरह प्रियदर्शन पुत्र को देखा ही नहीं (दोनों हाथ फैलाकर अर्द्धविक्षिप्त की भांति) आ पुत्र, आ । (इधर-उधर देखकर) राधागुप्त—राधागुप्त !

मंत्री—महाराज, महामात्य राधागुप्त कुमार को देखने अशोकाराम की ओर गए हैं ।

[राधागुप्त और आचार्य उपगुप्त आते हैं ।]

सम्राट्—(विक्षिप्त की भांति हाथ पसारकर) आ पुत्र !

उपगुप्त—सम्राट् का कल्याण हो ।

सम्राट्—(देखकर) आचार्य पाद हैं । अहा, आज तो महोत्सव है आचार्य ।

उपगुप्त—(निकट आकर) प्रियदर्शी के साम्राज्य में नित्य ही महोत्सव होता है ।

सम्राट्—(वैसे ही उन्माद में) तो राधागुप्त कहां है ?

राधागुप्त—मैं सेवा में उपस्थित हूँ महाराज !

सम्राट्—बहुत अच्छा है—सब प्रबंध कर दो । युवराज का अभिषेक आज ही हो ।

राधागुप्त—महाराज.....

सम्राट्—वाद्य-धुन नहीं सुन रहा हूँ । पुत्र पर छत्र में लगाऊंगा । (उठने की चेष्टा करके गिर जाता है ।)

[राजवैद्य उपचार करते हैं ।]

सम्राट्—राधागुप्त !

राधागुप्त—महाराज !

सम्राट्—आज सुख का दिन है । पुत्र विवर्धन आया है । वधू भी है । आज ही नगर में नक्षत्र होना चाहिए । राधागुप्त !

राधागुप्त—महाराज !

सम्राट्—वाद्य-ध्वनि सुन नहीं पड़ रही है ।

राधागुप्त—हां महाराज ।

सम्राट्—(उन्मत्त की भांति हाथ फैलाकर) पुत्र विवर्धन, सुना तूने—वीणा में तेरा एक प्रतिस्पर्द्धी उत्पन्न हुआ है । (हंसता है ।)

राधागुप्त—महाराज !

सम्राट्—कौन है ?

राधागुप्त—मैं राधागुप्त हूँ ।

सम्राट्—वह भिक्षुक तो पुत्र के समान वीणा-वादन नहीं कर सकता न !

राधागुप्त—महाराज, आचार्य उपगुप्त यहां पधारे हैं ।

सम्राट्—अभिवंदना करता हूँ आचार्य ! (हाथ जोड़ता है ।)

उपगुप्त—प्रियदर्शी महाराज का कल्याण हो । महाराज कुमार धर्म-विवर्धन.....

सम्राट्—कहाँ है धर्मविवर्धन ?

उपगुप्त—अशोकाराम में है । राजन्, उसने प्रव्रज्या ली है, उसे धर्म-लाभ हुआ है ।

सम्राट्—धर्मलाभ तो उत्तम है । किन्तु वाद्य....

उपगुप्त—राजन्, युवराज के साथ ही देवी चारुशीला ने भी प्रव्रज्या ली है ।

सम्राट्—धर्मलाभ....धर्मलाभ....राधागुप्त !

राधागुप्त—महाराज ।

सम्राट्—कहाँ है पुत्र विवर्धन । वाद्य-ध्वनि अभी भी नहीं आ रही है ।

राधागुप्त—महाराज.....

सम्राट्—(उन्मत्त की भाँति हंसकर) तो पुत्र का अभिषेक हो गया । मन्त्रियो, नक्षत्र मनाओ । दीपोत्सव करो । समाज करो । अनुमति देता हूँ राधागुप्त ।

राधागुप्त—(आंसू पोंछता हुआ) महाराज,

सम्राट्—पुत्र से कहना कि उसका एक वीणा-प्रतिद्वंद्वी राजधानी में आया है । भिक्षुक है । अन्धा है । दीन-हीन है । उसे पुरस्कृत करे ।

[उपगुप्त और राधागुप्त आंसू पोंछते हुए बाहर निकल जाते हैं । राजवैद्य राजा को सुलाने की चेष्टा करते हैं ।]

सातवां दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र के राजमहालय का प्रांगण

समय—प्रातःकाल

[बहुत से नागरिकों ने महल को घेर लिया है। उत्तेजित भीड़ महल में धंसी पड़ती है। सम्राट् रुग्ण हैं। अशक्त हैं। सम्राट् के निकट राधागुप्त हैं। महालय के प्रहरी और सम्राट् की शरीर-रक्षक सेना भीड़ को रोक रही है। भीड़ में से उत्तेजना-मूलक घोष सुनाई पड़ रहे हैं।]

एक शब्द—राजपुत्र धर्मविवर्धन का हम बदला लेंगे।

दूसरा—आंख के बदले आंख और नाक के बदले नाक।

तीसरा—रानी तिष्यरक्षिता को महिषीपद से च्युत करना होगा।

चौथा—उसने निष्पाप कुमार विवर्धन की आंखें फोड़ दीं।

पांचवां—क्रूरकर्मा है, महिषी तिष्यरक्षिता।

छठा—उसने बोधिवृक्ष को जला डाला है।

सातवां—उसने प्रियदर्शी को विष दिया है।

आठवां—उसे हमारे सुपुर्द करो, हम उसे जीवित जला देंगे।

नवां—जीवित ही भूमि में गाड़ देंगे।

दसवां—रानी को हमारे हवाले करो।

ग्यारहवां—नहीं तो महालय का द्वार भंग कर दिया जाएगा।

[शोर सुनकर सम्राट् की आंखें खुल जाती हैं।]

सम्राट्—यह कैसा कोलाहल है राधागुप्त ?

राधागुप्त—प्रजा के प्रतिनिधि महारानी तिष्यरक्षिता को दण्ड देने की याचना करते हैं।

सम्राट्—(आहत स्वर में) क्या वे अपने सम्राट् को दण्ड देना नहीं चाहते ?

राधागुप्त—सम्राट धर्मराज हैं, सम्राट की जय हो।

सम्राट्—किन्तु रानी के पाप में मेरा भी भाग है। उन्हें कहो, यह तुम्हारे राजा का हृदय है, इसे विदीर्ण कर दो।

राधागुप्त—महाराज, अपराधी को दण्ड मिलना चाहिए।

सम्राट्—इससे क्या होगा राधागुप्त। दण्ड से अपराध का शमन नहीं होगा।

[भीड़ एकदम महल पर आक्रमण करती है। सैनिक शस्त्र निकालते हैं। भिक्षु-वेष में राजकुमार धर्मविवर्धन आता है।]

धर्मविवर्धन—(हाथ ऊँचा करके) भाइयो, अक्रोध से क्रोध को, भलाई से बुराई को, दान से कृपण को, और सत्य से झूठ को जीतना चाहिए।

सब—सुनो ! सुनो !! युवराज धर्मविवर्धन.....

कुमार—(ऊँचा हाथ करके भीड़ में घुसत दृष्टे)

सत्संग करो उत्तम मंगल।

निस्संग रहो उत्तम मंगल।

सुफल कर्म उत्तम मंगल !

दुख निरोध उत्तम मंगल।

ब्रह्मचर्य उत्तम मंगल।

मितभाषण उत्तम मंगल।

गुरुजन-सेवा उत्तम मंगल।

सदाचार उत्तम मंगल।

आत्मदान उत्तम मंगल।

भूत-दया उत्तम मंगल।

निर्वैर हृदय उत्तम मंगल।

[सारी भीड़ शान्त हो जाती है। कुमार के साथ मंगलध्वनि गाती पीछे जाती है।]

आठवां दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र का राजमहालय । तिष्यरक्षिता रानी का महल ।

समय—प्रातःकाल ।

[रानी तिष्यरक्षिता—एकान्त कक्ष में]

रानी—(स्वगत) वैर पूरा हो गया । पूरा न सही, आंशिक ही । विवर्धन की आंखें गई, जिन पर उसे गर्व था । सम्राट् भी तेज भंग हुए । साम्राज्य की ओट में मेरे यौवन का हरण किया । धर्म-पाखण्ड । कोरा धर्म-पाखण्ड । धर्म-भेरी, धर्म-घोष, केवल बाल-भाव । मूर्खों को काषाय पहना उन्हें विहारों में रख माल-मलीदे उड़ाना कैसा धर्म है ? मैने बोधिवृक्ष को कटवाकर जला डाला, सम्राट् ने मेरा क्या कर लिया । विवर्धन की मैने आंखें निकलवा लीं । प्रजा कुपित हुई । उसने राजा से मेरे न्याय की मांग की । हुंह...राजा मेरा न्याय करेगा !

[भिक्षु कुणाल आता है ।]

कुणाल—आपका कल्याण हो देवी ।

रानी—(चौंककर) है...कौन ? (भय से पीछे हटकर) विवर्धन !

कुणाल—भिक्षु कुणाल हूं आर्ये !

रानी—तो यहां किसलिए आए हो ?

कुणाल—भिक्षा के लिए आर्ये !

रानी—कैसी भिक्षा ?

कुणाल—काम की भिक्षा, क्रोध की भिक्षा, लोभ-मत्सर की भिक्षा, ईर्ष्या की भिक्षा । यह सब इस भिक्षापात्र में डालकर निष्पाप हो जाओ देवी !

रानी—मैं पापिन हूं, यह तुमसे किसने कहा ?

कुणाल—किसी ने भी नहीं ।

रानी—क्या तुम्हें मुझपर सन्देह है ?

कुणाल—विश्वास है देवी ।

रानी—कैसा विश्वास ?

कुणाल—कि माता भिक्षा देंगी । मैं आपका पुत्र कुणाल भिक्षु हूँ
आर्यो ।

रानी—(कांपकर) चले जाओ, चले जाओ ।

कुणाल—बिना ही भिक्षा लिए ?

रानी—मेरे पास भिक्षा नहीं है ।

कुणाल—तो माता, अपने इस पुत्र ही से कुछ ले लो ।

रानी—क्या दोगे तुम ?

कुणाल—दया, प्रेम, अवैर, अक्रोध ।

रानी—तो क्या तुम जान गए कि...

कुणाल—वह आज्ञापत्र आप ही ने लिखा था तो इससे क्या ? जैसे पिता
वैसी माता । मैंने आज्ञा का पालन कर लिया ।

रानी—तुम जानते हो कि मैंने तुम्हारी आंखें फुड़वाई हैं । तुम जानते हो
कि मैं तुम्हारी वैरिन हूँ !

कुणाल—जानता हूँ माता ।

रानी—फिर भी तुम मेरे पास आए हो ।

कुणाल—हां माता ।

रानी—(रोकर) कुमार, मैंने तुमसे प्रेम किया था...

कुणाल—जानता हूँ माता ।

रानी—और तुमने उसका तिरस्कार किया था...

कुणाल—मैंने आपका सत्कार किया था माता ।

रानी—और अब ?

कुणाल—आपकी कल्याण-कामना करता हूँ । वैसा ही सत्कार
करता हूँ ।

रानी—यह जानकर भी कि मैं तुम्हारी वैरिन हूँ ?

कुणाल—आप मेरी माता हैं—मैं तो इतना ही जानता हूँ ।

रानी—मेरा वैर...

कुणाल—मैंने उसे ग्रहण ही नहीं किया ।

रानी—तो तुमने मुझे क्षमा कर दिया ।

[रोती हुई कुमार के पैरों में गिर जाती है ।]

कुणाल—महारानी, जिस मनुष्य के मन से लोभ, द्वेष और मोह ये तीनों मनोवृत्तियाँ लोप हो गई हैं, वही चारों दिशाओं में प्राणि-मात्र के प्रति मैत्री-भाव प्रसारित करता है । अपने मैत्रीमय चित्त से चारों दिशाओं में बसने वाले समस्त प्राणियों पर वह प्रेम की वर्षा करता है । करुणा-मुदिता और उपेक्षा की भावनाओं का उसे अनायास ही सुलभ लाभ हो जाता है—

वासनाएँ समल दुस्तर तिमिर
अनगिनत शुचि-अशुचि दुर्मद अवर
विचल जीवन मोह वहिरागमन
कामना प्रतिपल पराजित खलन
पूर्णता से पूर्ण मानस लोक
सत्य सद्भासित सुवर्णलोक
मन गगन की पूर्ण यह अभिलाष
पंचभूतों की विसर्जित भास ।

नवां दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र का राजमहालय । सम्राट् का शयन-कक्ष

समय—रात्रि

[सम्राट् अर्द्धमूर्छितावस्था में बेसुध पड़े हैं । राजवैद्य उपचार कर रहे हैं । महामात्य राधागुप्त सम्राट् के निकट खड़े हैं ।]

सम्राट्—(एकाएक चैतन्य होकर) राधागुप्त !

राधागुप्त—महाराज !

सम्राट्—कुक्कुटाराम का अवदान पूरा हुआ ?

राधागुप्त—नहीं हुआ महाराज !

सम्राट्—वह सब मेरे रत्नाभरण, भोजन के स्वर्ण-रजत पात्र, वस्त्र और भोग-द्रव्य सब देकर भी पूरा नहीं हुआ ?

राधागुप्त—नहीं हुआ महाराज !

सम्राट्—कितना शेष रहा, राधागुप्त ?

राधागुप्त—शतभार स्वर्ण महाराज ।

सम्राट्—(निराश स्वर में) शतभार !! राधागुप्त, अब और तो मेरे पास कुछ भी नहीं है । जब मैंने अपने रत्न और स्वर्ण-पात्र संघ को दे दिए तो मेरा भोजन रजत-पात्रों में आया । वे भी मैंने वहां भिजवा दिए । तो फिर कांस्य पात्रों में आया । वे भी मैंने भिजवा दिए । फिर मृत्तिका पात्रों में आया; वह भी मैंने वहां भिजवा दिए । अब तो पर्ण-पत्रों पर भोजन आता है । मैंने आधा भोजन भिजवाया तो फिर आधी मात्रा ही मे मुझे भोजन मिलने लगा । उसमें से भी मैंने आधा भेज दिया तो उसकी आधी मात्रा में आया । आज तो मैंने निराहार रहकर सारा ही भोजन संघ को दे दिया—तब भी मेरा अवदान पूर्ण नहीं हुआ राधागुप्त !

राधागुप्त—नहीं हुआ महाराज !

सम्राट्—दुर्भाग्य है राधागुप्त ।

राधागुप्त—महाराज !

सम्राट्—(कुछ याद करके) ठहरो राधागुप्त । अभी एक वस्तु मेरे पास है ।

राधागुप्त—क्या है महाराज ?

सम्राट्—(हंसते हुए वस्त्र से एक आंवला निकालकर) यह भैषज्य !

अभी मुझे वैद्यराज ने दिया है । इसे आराम में ले जाओ राधागुप्त !

और मेरा अवदान पूर्ण हो ।

[आचार्य उपगुप्त, भदंत कोदिनी पुत्र आचार्य कास्सगोत्त, स्थविर मज्जहिमा, आचार्य हरित्पुत्र आदि संघ-स्थविर एवं बहुत से प्रमुख भिक्षु आते हैं । अवरोध आ उपस्थित होता है ।]

राधागुप्त—(आचार्य उपगुप्त से) आचार्य, सम्राट् का कुक्कुटाराम को दिया एक अवदान शेष है । अब देवानांप्रिय महाराज अशोक की संपत्ति में यही एक आंवला शेष है । इसीसे सम्राट् अवदान पूर्ण किया चाहते हैं ।

आचार्य उपगुप्त—(आंवला लेकर) यहां भदंत कोदिनीपुत्र कुक्कुटाराम के संघ स्थविर उपस्थित हैं । वे ही इसे ग्रहण करें ।

कोदिनीपुत्र—(आंवला लेकर) महाराज ! यह भैषज्य है । आधा सम्राट् ग्रहण करें । आधे ही में मैं अवदान पूर्ण करता हूँ ।

[आधा आंवला सम्राट् को देता है । शेष आधा भिक्षुसंघ को देकर—]

संघ सुने । यह देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी महाराज का शतभार स्वर्ण अवदान पूर्ण हुआ । इस आधे आंवले को सूप में डालकर सब संघ भोजन में ग्रहण करे ।

राजा—(प्रसन्न होकर) मैं मुक्त हुआ । मेरा अवदान पूर्ण हुआ । (क्षीण वाणी में) आचार्य पाद—

[आचार्य उपगुप्त सम्राट् के मुख के पास कान लगाते हैं ।]

सम्राट्—आचार्य, मुझे प्रव्रजित कीजिए । उपसम्पदा दीजिए ।

उपगुप्त—(पवित्र जल सम्राट् के मस्तक पर छिड़ककर) कहो राजन्,

बुद्धं सरणं गच्छामि ।

संघं सरणं गच्छामि ।

सत्यं सरणं गच्छामि ।

[तीन वचन कहते-कहते सम्राट् की वाणी जड़ हो जाती है । सम्राट् के प्राणपल्लेरू उड़ जाते हैं ।]

दसवां दृश्य

स्थान—चैत्य पर्वत । सिंहल का एक वर्षावास ।

समय—रात्रि का अन्तिम प्रहर ।

[आश्विन-मास की शुक्ल-पक्ष की अष्टमी । चैत्य पर्वत पर वर्षावास करता हुआ सम्पूर्ण भिक्षुसंघ उपस्थित है । परां-शया पर जीर्ण शरीर अस्सी वर्ष के वृद्ध महामहेन्द्र धर्मदूत अपने अन्तिम श्वास ले रहे हैं । भिक्षुसंघ पवित्र वाक्यों का घोष कर रहा है । दूर तक सहस्रों सुगंधित दीप जल रहे हैं । भिक्षुसंघ और भिक्षुणी थोरी रात्रि जागरण कर चुके हैं । आर्या संघमित्रा की अवस्था भी उतनी ही है । वे भी धर्मदूत के निकट बैठी हैं ।]

महामहेन्द्र—आर्या संघमित्रा, कठिन धर्मव्रत और श्रम ने इस जराजीर्ण शरीर को जर्जर और अशक्त कर दिया है । मेरा शरीर बहुत जीर्ण हो गया है । अब इस शरीर का अन्त होगा । यह शरीर-धर्म है ।

[मुख पर शांत हास्य-रेखा प्रस्फुटित होती है ।]

संघमित्रा—आर्य, हम धर्म से प्रेरित हो यहां इस अज्ञात द्वीप में अपने

जीवन के प्रभात ही में आए थे । यहां रहते हमें युग बीत गया । अपने जीवन हमने धैर्यपूर्वक सद्धर्म की सेवा में अर्पित कर दिए । धर्मराज देवताओं के प्रिय महाराज भी निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं । अब हमें और क्या करणीय शेष रह गया है ।

महामहेन्द्र—(स्थिर कण्ठ से) कुछ नहीं । आर्ये, तुमने द्वीप की स्त्रियों को पवित्र धर्म के रंग में रंग दिया है । पर अभी, जब तक जीवन है, तुम अपना कर्तव्य पूर्ण करना । (ध्यानस्थ हो जाते हैं ।)

संघमित्रा—आर्य, अब क्या चिंतन कर रहे हैं ?

महेन्द्र—(नेत्र खोल, कुछ मुस्कराकर) आर्ये, आज इस क्षण इस वीतराग भिक्षु को कुछ मोह हुआ है । वह देखो, समुद्र की लहरें किनारों पर टकराकर उस पार के मित्रों की आनन्द-ध्वनि ला रही हैं । क्या महामेघ विहार से आयुष्मान् सुमन आ गया है ?

संघमित्रा—(आंखों में आंसू भरकर) आयुष्मान् यहीं है ।

महेन्द्र—(इधर-उधर देखकर) कहां ?

[संघमित्रा के संकेत से भिक्षु सुमन आकर भिक्षुराज के दोनों पैरों को गोद में लेकर रोता हुआ बैठ जाता है ।]

महेन्द्र—(मुस्कराकर आशीर्वाद देने को हाथ उठाते हैं पर वह दुर्बलता के कारण गिर जाता है ।) (क्षीण स्वर में) वहां नहीं पुत्र, यहां मेरी गोद में आ । आर्ये, मुझे तनिक सहारा दो ।

[उठने की चेष्टा करते हैं । संघमित्रा और सुमन सहारा देते हैं ।]

महेन्द्र—(क्षीण स्वर में) पुत्र-पुत्र, (दोनों हाथ पसारकर) आ... (सुमन रोते हुए उनकी गोद में गिर जाता है । भिक्षुराज का शरीर भी गिर जाता है । नेत्र निमीलित हो जाते हैं ।)

संघमित्रा—(पुकारकर) आर्य, आर्य !

महेन्द्र—(नेत्र खोलकर क्षीण स्वर में) आर्ये, मेरे जन्म की ग्रंथि मुक्त होने का समय आ उपस्थित हुआ । (थेर सुमन को छाती में लगा-

कर) आयुष्मन्, शांति और धीरता के साथ धर्म के दीपक को सतत प्रज्वलित रखना । धर्मचक्र को अविराम प्रवर्तित रखना ।

(इधर-उधर देखकर) कहां है धर्मपाल ?

धर्मपाल—प्रभु ! प्रभु !! (रोता हुआ, भूमि में गिर जाता है ।)

महेन्द्र—पुत्र, मृत्यु के बाद तू ही यहां इस धर्मासन को सम्हाल । तुझे मैं यह सौंपता हूँ । (संघमित्रा से) आर्ये ! बस, यहीं इस जीवन-यात्रा की समाप्ति है ।

संघमित्रा—(रोकर) आर्य, यह क्या ? यह क्या ?

महेन्द्र—(मृदु मुस्कान सहित) आर्ये, जन्म का ध्रुव अन्त मृत्यु है । यह ध्रुव सत्य है । किन्तु तुम क्या शोकाभिभूत हो !

संघमित्रा—(रोती हुई) हां आर्य, हां अक्षय-कीर्ति !

महेन्द्र—(मुस्कराकर) ज्योत्स्ना का कैसा शुभ्रालोक है । यह क्या शोक का काल है । यह तो निर्वाण का आनन्द है ।.....

[बाणी रुक जाती है । श्वास रुद्ध हो जाता है । शरीर निस्पन्द हो गिर जाता है ।]

संघमित्रा—(उच्च स्वर से) भिक्षुओ, सावधान हो जाओ । इस ससागरा पृथ्वी के एकमात्र अधिकारी त्यागी राजपुत्र, वीतराग महास्थविर महामहेन्द्र निर्वाण पद पा गए । यहां, यह उनका पुण्य शरीर है ।

[सब लोग चारों ओर से दौड़ते हैं । बहुत से भिक्षु अश्रु-पात करते हैं । बहुत-से पवित्र मंत्र पाठ करते हैं । बहुत-से घण्टे बज उठते हैं ।]

ग्यारहवां दृश्य

स्थान—पनदंब माल विहार—सिंहल

समय—प्रातः काल

[धर्मपुत्र भिक्षुराज महामहेन्द्र का शरीर सुगन्धित मसाले लगाकर सुगन्धित तेल में स्वर्ण-मंजूषा में रखा है। समस्त द्वीप-वासी रंग-बिरंगे वस्त्र धारण किए, चारों ओर से आ-आकर विविध वाद्य बजा कर नृत्य-गान कर रहे हैं। राजसैनिक पंक्ति-बद्ध खड़े हैं। विहार के चारों ओर का पच्चीस योजन तक का प्रदेश ध्वजा-तोरण-पताका और फूल-पत्ती से सजाया गया है। सिंहल का राजा उत्तिय, पाँच पयादे, राजपरिवार, राजवर्गोजन और अनुराधापुर के सम्पूर्ण निवासियों को साथ लेकर आया है। महामेघ वन-विहार से पनदंब विहार तक भिक्षुगण पवित्र वचनों का पाठ कर रहे हैं। राजा-परिवार के जन, नगर-नागर, और सिंहल द्वीप वासी अर्द्धसभ्य जन टोलियां बनाकर अपने-अपने ढंग पर भिक्षुराज को श्रद्धांजलि अर्पित करते। चंदन-चिता तैयार है। सैंकड़ों मन कपूर, कस्तूरी, अग्रर, कुकुम और अन्य गन्ध सोने-चांदी के थालों में भरे हुए धरे हैं। चिता के चारों ओर की भूमि फूलों से सज्जित है। पवित्र वाक्यों के उच्चारण के साथ भिक्षुराज का शरीर चिता पर रखा जाता है।]

राजा उत्तिय—(चिता की परिक्रमा करके) द्वीपवासियों, जिस महा-पुरुष ने हमारे द्वीप को नवीन जीवन दिया, धर्म का नेत्र दिया, जीवन में नई सभ्यता की स्फूर्ति पैदा की, जिससे द्वीप भर में कला-कौशल में उत्क्रांति हो गई; जिससे हमारा द्वीप धर्मराज अशोक के महाराज्य का पूरा प्रसाद पा सम्पन्न हो गया; जिसका हमारे द्वीप में आगमन परम वरदान सिद्ध हुआ, वह महासत्त्व आज हम से

विदा हो रहा है। आज हम उसके पुण्य शरीर को अग्निरथ-अभियान सम्पन्न कर रहे हैं।

[सब एक स्वर से जय-जयकार करते हैं। बहुत से जन सिसक-सिसक कर रुदन करते हैं। बहुत से भूमि पर प्रणिपात करते हैं। बहुत से जन पवित्र वाक्यों का पाठ करते हैं। सैनिक पद्धति से अभ्यर्थना करते हैं।]

राजा—(आंसू पोंछता हुआ) आज सात दिन से द्वीपवासी इस पुण्य शरीर के अन्तिम दर्शनों से अपने नेत्रों को धन्य करते रहे हैं। अब यह शरीर भी पंचभूतों में मिल जाएगा। द्वीपवासियों, पुष्प पैदा होते हैं। उनकी गंध शेष रह जाती है। पुण्य-शरीरों के पुण्य शेष रह जाते हैं। वे जहां चरण रखते हैं वही स्थल पवित्र हो जाता है। आज जहां से धर्मराज धर्मदूत का महाप्रस्थान हो रहा है, वह भूमि आज से द्वीपवासियों की पवित्र तीर्थभूमि होगी। आज से इस स्थान का नाम 'भूमांगन' हुआ। अब से, इस स्थान के इर्द-गिर्द पच्चीस योजन के घेरे में जो पुरुष शरीर त्याग करेगा वह अंतिम संस्कार के लिए यहीं लाया जाएगा।

[सब लोग प्रचण्ड जय-जयकार करते हैं।]

राजा—धर्मराज का द्वीप में स्वागत मेरे भी जन्म से पूर्व मेरे पिता श्री महाराज तिष्य ने किया था। मेरे पिता को, उनके परिवार को, राज्य को, सिंहलद्वीप को इन महाधर्मदूत ने केवल पवित्र ही नहीं किया, देवी सम्पद् से भर दिया। आज वे हमें धर्म की संपूर्ण सम्पदा दे जा रहे हैं।

[सब लोग सिसक-सिसककर रोते हैं।]

राजा—धर्मराज ने साठ वर्ष तक द्वीप में धर्मदान किया है। वे जिन-जिन गुफाओं में रहे, वे सब आगे महेन्द्र-गुफा कहाएंगी। और यहां, जहां जिस शिला पर धर्मराज ने निर्वाण प्राप्त किया, वह शिला

महेन्द्र-शैया के नाम से प्रसिद्ध होगी । पहाड़ी के उस ओर का सरो-
वर, जहां भिक्षुराज स्नान करते थे, महेन्द्रकुण्ड के नाम से विख्यात
होगा । धर्मराज के अवशेष का आधा चैत्य पर्वत पर स्थापित होगा,
और वहां प्रत्येक पौष की पूर्णिमा को मेला लगेगा । अवशेष का
शेष भाग समस्त विहारों और प्रमुख संघों में स्थापित होगा ।

[कुछ देर चुप रहकर राजा चिता में अग्नि देता है । भिक्षु
संघ जोर-जोर से पवित्र वाक्यों का उच्चारण करते हैं । देखते ही
देखते चिता की लपटें उस पवित्र शरीर को घेर लेती हैं । बहुत से
शांख-वाद्य बजते हैं ।]

परिशिष्ट

पारिभाषिक शब्दों का अर्थ

अपरन्त—सीमाप्रान्त । आयोनियन्स (Ionians) अशोक-काल में अपरन्त प्रान्त में बस गए थे, जो कम्बोज के निकट था । (शिलालेख १३)

अन्तिकिन—अन्तिगोनस ।

अनारंभो प्राणानां—जीवों को अभय ।

आरामिक—विहार के सेवक । इन्हें विहार के दान-प्राप्त गांवों की जमीन जोतने को दी जाती थी । ये विहार को लगान देते थे तथा बेगार भी करते थे । बहुधा आसपास के प्रदेशों से गरीब आदमी खरीदकर संधारामों में आरामिक बनाया जाता था । पीछे ये आरामिक विहारों को ध्वंस कर उसकी भू-सम्पत्ति हथियाकर राजा बन बैठे ।

[देखिए—हुएन्सांग का विवरण]

ओं नमो अलिहंताणं—ओं नमो अरहन्तारम् ।

काफिस—काफिरस्तान

कर्न सुवर्न—वर्दवान

केरलपुत्त—केरल, मालावार

कम्बोज—काबुल नदी के आसपास का इलाका । काबुल नदी वैदिक 'कुभा' है । तथा उत्तरी-पच्छिमी सीमाप्रान्त का हजारा जिला तथा मानसेरा जहां १४वां शिलालेख मिला ।

गांधार—अफगानिस्तान

ग्लान-प्रत्यय—रोगी का पथ्य

चोड़—दक्षिण में प्रान्त । त्रिचनापल्ली के निकट का प्रान्त ।

ताम्रलिप्त—बंगाल का प्राचीन बन्दरगाह । जहां से बहुधा दक्षिण के यात्री समुद्र-यात्रा करते थे ।

धर्म-यात्रा—अशोक ने अपने राज्यारोहण के १०वें वर्ष आखेट आदि के स्थान पर धर्म-यात्राएं आरम्भ की थीं ।

धर्ममहामात्र—राजनि अभिषिक्त होने के २८वें वर्ष धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की, जो अनेक मंगल कार्य करते थे । वे सब सम्प्रदायों के लिए नियुक्त थे । (सातवां शिलालेख) ।

धर्म-स्तम्भ—अशोक ने स्थान-स्थान पर धर्माज्ञाएं खुदवाकर धर्म-स्तम्भ स्थापित किए थे, जिनसे प्रजा धर्माचार सीखे । फ्लीट का कथन है कि शिलालेखों व धर्म-स्तम्भों पर खुदे धर्म-लेख राज-धर्म के अनुसार थे । उनके कथनानुसार ये लेख राजा और राजकर्मचारियों के पथ-प्रदर्शन के लिए थे । परन्तु यह बात ठीक नहीं है । क्योंकि 'वास्तिहि क्रमतर सबलोकहितेन' (यान सेरा, छठा प्रज्ञापन) इसके विपरीत साक्षी देता है ।

नक्षत्र—उत्सव

नामपत्ति—यह एक जनपद हिमालय की तराई में था । यहां नामकपुर एक नगर था । यह नगर उत्तर कुरुओं के अधीन था । कोई-कोई इस जनपद को यवन और कम्बोजों के मध्य भी कहते हैं ।

नास्तिहिक्रमतर—सर्व मंगल से बढ़कर अधिक उपादेय कार्य कोई नहीं ।

पुष्पहपुर—पाटलिपुत्र

पुण्यवर्धन—उत्तरी बंगाल

पैठानिक—गोदावरी तट पर प्रतिष्ठानपुर (बुलेर)

पाण्ड्य—मद्रास प्रान्त (वर्तमान मदुरा)

प्रशक्ति—विशेष शक्ति

परिन्दा—पूर्वीय प्रान्त, (पूर्वी पाकिस्तान)

पिण्डपात—भिक्षा

पंचशील—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, मद-वर्जन ।

परत्र च अनन्त—इस धर्म मंगल से दूसरे लोक में स्वर्ग की सिद्धि होती है । और अनन्त पुण्य उपजता है ।

बाहुसच्चं च—(मंगल सुत) बहुश्रुतता, शिल्प, उत्तम व्यवहार और समयोचित भाषण—ये उत्तम मंगल हैं ।

मग—एलेक्जेंडर का यूनानी राज्य ।

मठिषा मण्डल—मैसूर ।

ये तोषे उटनसि—मुझे उद्योग (प्रजा-हित) करने ही में संतोष है ।

येन जने तथा पटिपजेया—जिससे इसी प्रकार लोग आचरण करें ।

राष्ट्रिक—काठियावाड़ (हुल्स)

सत्यपुत्र—दक्षिण प्रांत । पच्छिमी घाट, मालाबार । कांचीपुर, कांजीवरम् ।

सत्त्व भूतानां अर्हतिच—सर्व प्राणियों का कल्याण, संयम, समचर्मठ (सबसे समान आचरण), मङ्गल (हर्ष) ही देवताओं के प्रिय का गुरुमत श्रेष्ठ कर्म है ।

सर्वे हितसंयम भाव शुद्धि च इच्छन्ति—सभी संयम और भावशुद्धि के अभिलाषी हैं ।

सर्वमुनिसामिपजा—सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं ।

सम्बपापं—(उगुत्तर निकायः) ऐसे काम न करो, जिनसे दूसरों की हानि हो । ऐसे कर्मों को करो जिनसे सबका कल्याण हो, तथा चित्त शुद्ध रखो, यही बुद्ध की आज्ञा है ।

शास्ता—बुद्ध

शासन—धर्माज्ञाएं



